वार्षिक रु. १००, मूल्य रु. १२

विवेक ज्योति

वर्ष ५४ अंक ५ मई २०१६

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २०१६

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५४
अंक ५

वार्षिक १००/– **एक प्रति १२/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ४६०/–
१० वर्षों के लिए – रु. ९००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस. अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में – वार्षिक ३० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षों के लिए १२५ यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
संस्थाओं के लिये –
वार्षिक १४०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

आवरण-पृष्ठ पर दिये गए मन्दिर का चित्र छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र में स्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर का है । इस आश्रम की स्थापना १९८५ में हुई । बस्तर क्षेत्र आदिवासी प्रधान क्षेत्र है । आदिवासी लोगों में शिक्षा और सामाजिक उन्नयन हेतु इस आश्रम की स्थापना की गई थी । आश्रम द्वारा संचालित कुछ सेवाकार्य निम्नलिखित हैं –

१. आवासीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, जिसमें आदिवासी क्षेत्र के लगभग ९३१ विद्यार्थी अध्ययन करते हैं ।

२. विवेकानन्द आरोग्य धाम – यह ३० शय्यावाला अस्पताल है, जिसमें गरीब आदिवासियों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती है । यहाँ टी.बी के रोगियों की भी चिकित्सा होती है ।

३. आ.टी.आई. कॉलेज – इसमें आदिवासी बच्चों के लिये आधुनिक तकनीकि शिक्षा प्रदान की जाती है, जिससे आदिवासी ग्रामीण बच्चे स्वावलम्बी बन सकें ।

४. सार्वजनिक पुस्तकालय – इसमें लगभग १२००० पुस्तकें और ७९ सम-सामयिक पत्रिकाएँ हैं ।

५. कृषि केन्द्र – इसमें ग्रामीणों को नयी तकनीकि से कृषि करने का प्रशिक्षण दिया जाता है ।

६. बहुद्देशीय प्रशिक्षण केन्द्र – इसमें मोटर मेकेनिक, गाड़ी चलाना, सिलाई, बढ़ई का प्रशिक्षण दिया जाता है ।

इसके अतिरिक्त सचल चिकित्सालय, निःशुल्क कोचिंग सेन्टर, सात सस्ती मूल्य की दुकानें और अबूझमाड़ के बीहड़ जंगलों में पाँच प्राथमिक आवासीय विद्यालय भी संचालित किये जाते हैं । अनेक ग्रामीण विकास कार्य भी किए जाते हैं, जैसे – सड़क निर्माण, तालाब की खुदाई आदि । प्रतिवर्ष किसान मेला का आयोजन होता है, जिसमें लगभग १५००० किसान भाग लेते हैं । श्रीरामकृष्ण देव, श्रीमाँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द के जन्मोत्सव प्रतिवर्ष मनाये जाते हैं ।

लेखकों से निवेदन

सम्माननीय लेखको ! गौरवमयी भारतीय संस्कृति के संरक्षण और मानवता के सर्वांगीण विकास में राष्ट्र के सुचिन्तकों, मनीषियों और सुलेखकों का सदा अवर्णनीय योगदान रहा है। विश्वबन्धुत्व की संस्कृति की द्योतक भारतीय सभ्यता ऋषि-मुनियों के जीवन और लेखकों की महान लेखनी से संजीवित रही है। आपसे नम्र निवेदन है कि 'विवेक ज्योति' में अपने अमूल्य लेखों को भेजकर मानव-समाज को सर्वप्रकार से समुन्नत बनाने में सहयोग करें। विवेक ज्योति हेतु रचना भेजते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखें –

१. धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा मानव के नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है। **२.** रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिकतम चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर स्पष्ट सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुयी हो। आप अपनी रचना ई-मेल – vivekjyotirkmraipur@gmail.com से भी भेज सकते हैं। **३.** लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें। **४.** आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें **५.** पत्रिका हेतु कवितायें छोटी, सारगर्भित और भावपूर्ण लिखें। **६.** 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा। **७.** 'विवेक-ज्योति' में मौलिक और अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है, इसलिये अनुवाद न भेजें। यदि कोई विशिष्ट रचना इसके पहले किसी दूसरी पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी हो, तो उसका उल्लेख अवश्य करें।

मई माह के जयन्ती और त्योहार

०१	**रामकृष्ण मिशन स्थापना दिवस**
०९	**अक्षय तृतीया**
१०	**शंकराचार्य, सूरदास**
१२	**रामानुजाचार्य**
२१	**बुद्ध पूर्णिमा**

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ५४ मई २०१६ अंक ५

अनात्मश्रीविगर्हणम्

श्रीशंकराचार्य

कायः क्लिष्टश्चोपवासैस्ततः किं,
लब्धाः पुत्राः स्वीयपत्न्यास्ततः किम्।
प्राणायामः साधितो वा ततः किं,
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्।।

– व्रत-उपवास से शरीर दुर्बल करने, पत्नी से सुपुत्र प्राप्त करने, दीर्घायु हेतु प्राणायाम करने से क्या हुआ, यदि आत्मसाक्षात्कार नहीं किया?

युद्धे शत्रु निर्जितो वा ततः किं,
भूयो मित्रैः पूरितो वा ततः किम्।
योगैः प्राप्ताः सिद्धयो वा ततः किं,
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्।।

युद्ध में शत्रु-विजय करने, बहुत मित्र बनाने, अष्टांगयोग से सिद्धि मिलने से क्या हुआ, यदि आत्मसाक्षात्कार नहीं किया?

अब्धिः पद्भ्यां लङ्घितो वा ततः किं,
वायुः कुम्भे स्थापितो वा ततः किम्।
मेरुः पाणावुद्धृतो वा ततः किं,
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्।।

समुद्र को पैदल पार करने, वायु को समेटकर घड़े में भरने, सुमेरु पर्वत को हाथों में उठा लेने से क्या हुआ, यदि आत्मसाक्षात्कार प्राप्त नहीं किया?

पुरखों की थाती

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।।५००।।

– जिसको स्वयं बुद्धि नहीं है, उसको शास्त्रों से क्या लाभ? उसी प्रकार जैसे कि किसी नेत्रहीन अन्धे व्यक्ति को दर्पण दिखाने से क्या लाभ होगा?

यदभावि न तदभावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयम् अगदः किं न पीयते।।५०१।

– जो नहीं होना है, वह नहीं होगा और जो होना है, वह होकर ही रहेगा। चिन्तारूपी विष को दूर करनेवाली इस औषधि का लोग क्यों नहीं पान करते!

भेको धावति, तं च धावति फणी, सर्पं शिखी धावति
व्याघ्रो धावति केकिनं विधिवशात् व्याधोऽपि तं धावति।
स्व-स्वाहार-विहार-साधन-विधौ सर्वे जना व्याकुलाः
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते।। ५०२

– मेढ़क कीट-पतंगों को खाने के लिये उनकी ओर दौड़ता है, उसके पीछे सर्प दौड़ता है, सर्प के पीछे मोर दौड़ता है, मोर के पीछे बाघ दौड़ता है और बाघ के पीछे शिकारी लगा हुआ है। इस प्रकार सभी प्राणी अपने-अपने आहार-विहार के लिये व्याकुल रहते हैं, परन्तु सबके केश पकड़े रहनेवाला काल भी सबके पीछे उपस्थित होते हुए भी किसी को दिखाई नहीं देता।

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम्।
तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित्।।५०३।।

– जिन दो व्यक्तियों का समान धन तथा समान बल हो, उन्हीं के बीच झगड़ा-विवाद उचित है। उत्तम और अधम के साथ कभी लड़ाई हो ही नहीं सकती।

विविध भजन

मैया अब तो मोहिं उबारो

स्वामी रामतत्त्वानन्द

मैया अब तो मोहिं उबारो।
हार चुका मैं जीवन बाजी, अब तो शरण तिहारो।।
काली रूप दिखायी किसी को, किसी को दुर्गा माई,
जगद्धात्री रूप किसी को, किसी को सीता माई।
रोवत रोवत नैना हारी, अब तो हमें निहारो।।
गणिका को गले लगाकर, भव सागर से तारा,
पापी-तापी जो भी आया, सबको तुमने तारा।
जनम-जनम से खड़ा हूँ दर पे, अबकी बारी हमारो।।
अभय किया परस किसी को, सींची प्रेम की वारी,
किसी को मन्त्र दिया सपने में, किसी का संशय जारी।
संशयी हूँ, बालक तेरा, संशय सकल निवारो।।
साधन भजन कुछ नहीं होवै, नहीं जप-तप नहीं ध्यान,
जीवन नैया अब-तब डूबी, प्रचंड मोह-तुफान।
सकल प्रयास विफल भयो माँ, अब तो आस तिहारो।।

भज मन राम सिया

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

निशदिन आठों याम भज मन राम सिया।
तेरे बिगड़े बनेंगे काम, भज मन राम सिया।।
प्रभुजी को धाम अवधपुर सुन्दर।
मइयाजी को मिथिलाधाम, भज मन राम सिया।।
ममतामयी जानकी मइया।
प्रभु को दयानिधि धाम, भज मन राम सिया।।
मइया आशिष सों हनुमत के।
बस में भये श्रीराम, भज मन राम सिया।।
दरसन सुलभ होत नहीं जोगी।
साधन करत तमाम, भज मन राम सिया।।
सीयाराम जी के युगल चरन को,
जन 'राजेश' गुलाम, भज मन राम सिया।।

प्रभु से प्रेम कर ले रे

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

प्रभु से प्रेम कर ले रे।
रामकृष्ण का रूप सदा, निज चित्त धर में ले रे।।
प्रभु रूप सदा सुखदायक, जन-मन का अघनाशक है।
प्रेम बिहारी प्रेमरूप को, नयन में भर ले रे।।
हृदयविहारी जनसुखकारी, मुखमंडल मनोहारी है।
जो राम, कृष्ण वही रामकृष्ण, उन्हें हिय में धर ले रे।।
ईशभाव में सदा बिहारी, भक्तन मंगलकारी हैं।
शिवकारी, शुभकारी से निज मन को रंग ले रे।।
आनन्दसागर करुणासागर सुख-शान्ति वरदायक हैं।
उनकी चरण शरण लिया, जहँ आनन्द बरसे रे।।

जयतु जय श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकुमार गौड़

(राग - श्रीरामचन्द्रकृपालुभज मन हरण भवभयदारुणं)

जयतु जय जय जयतु जय जय जयतु जय त्यागीश्वरम्।
जयतु जय श्रीरामकृष्ण अनूप छविधरमीश्वरम्।।टेक।।
विप्रकुल संभूत निर्मल चित्त बाल गदाधरम्।
जन्मना अति सत्वगुणमय सत्यनिष्ठ कलेवरम्।।
बाल्यकाले शिल्प-गीत-कला निपुण हृदयेश्वरम्।
दिव्यभावाविष्ट कोमल देह छविधरमीश्वरम्।। जयतु ..
सर्वकाल सुमन्दहास सुशोभितं मुखमण्डलम्।
जगन्माता सम्मुखे विमल बालक निश्छलम्।।
सर्वभूते ब्रह्मदर्शन भावितं मति निश्चलम्।
जयतु जय श्रीरामकृष्ण युगावतार सुनिर्मलम्।।जयतु...
भक्तशोक विनाशने धृत नरकलेवर कोमलम्।
कीर्तनेषु मत्तवच्च दिव्यभाव सुविह्वलम्।।
भक्तजन-दुख-दैन्यनाशे तत्परं प्रभुचिन्मयम्।
प्रथितपुरुषो रामकृष्णः सर्वदा करुणामयम्।। जयतु...
जयतु जय श्रीमत् विवेकानन्द-मार्गप्रदर्शकम्।
जयतु जय प्रभु परमहंस स्वभक्तजन-मन कर्षकम्।।
भक्तजन-मनचौरकार्ये दक्ष श्रीछवि तन्मयम्।
जगन्माता चरणप्रान्ते नित्यगतभयसंशयम्।। जयतु...
जयतु जय नरदेव श्रीसारदावल्लभ-पूजकम्।
जयतु जय प्रभु ! भक्तनिर्मल हृदयरत्न सुदुर्लभम्।।
पूतचरिता जगज्जननी सारदा प्राणेश्वरम्।
जयतु प्रभु मे देहि निज पद भक्तिमेव कृपावरम्।। जयतु...

करुणावतार भगवान बुद्ध

एक बार राजकुमार गौतम प्रकृति की गोद में सुन्दर पुष्पित-पल्लवित उद्यानवाटिका में विहार कर रहे थे। उनका मन प्रकृति के दृश्य को देखकर अत्यन्त प्रसन्न था। वे इस प्राकृतिक एकान्त परिवेश के आनन्द में निमग्न थे, तभी अचानक उनके सामने एक रक्तरंजित पक्षी गिरा। स्वभावत: करुणा की मूर्ति राजकुमार का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने उस पक्षी को गोद में उठा लिया। उसके रक्त को पोछकर जल पिलाया और उसकी सेवा-शुश्रूषा में लग गये। तभी उनका चचेरा भाई देवदत्त वहाँ धनुष-बाण के साथ आ गया। उसने कहा कि यह पक्षी मेरा है, क्योंकि मैंने इसे अपने बाण से मारा है, इसे मुझे दे दो। गौतम ने कहा, नहीं यह मेरा है, क्योंकि यह मेरे सामने गिरा है और अब मेरे संरक्षण में है, इस पर मेरा अधिकार है। दोनों में विवाद हो गया। यह विवाद राजदरबार पहुँचा। राजा ने दोनों की बात सुनकर निर्णय दिया – ''इस पक्षी पर राजकुमार गौतम का अधिकार है। क्योंकि अधिकार जीवन बचानेवाले का होता है, जीवन का नाश करनेवाले का नहीं।'' ऐसे महान करुणासिंधु थे राजकुमार गौतम, जो बाद में महात्मा बुद्ध और भगवान बुद्ध के नाम से विश्वविख्यात हुए ।

जब कर्मकाण्ड में निरीह प्राणियों की बलि से पृथ्वी आर्तनाद कर उठी, तब करुणावातर भगवान ने प्रकट होकर सबसे पहले बलिप्रथा को बन्द किया और अहिंसा मार्ग से अभीष्टप्राप्ति का मार्ग बताया। कालान्तर में मानव के दुखों को देखकर उनकी पीड़ा से व्यथित होकर उन्होंने दुख का निदान खोजा। उनके निर्वाण-पथानुसन्धान की भी विस्मयकारी घटना है।

राज-ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के अनुसार उन्हें बहुत वर्षों तक महल से बाहर नहीं जाने दिया जाता था। क्योंकि ज्योतिषियों ने गौतम को वृद्ध, रोगी, शव और संन्यासी से दूर रखने को कहा था। ऐसा बहुत वर्षों तक चला। एक दिन गौतम ने अपने सारथि को नगर-भ्रमण कराने को कहा। सारथि नगर-भ्रमण कराने के लिये कुमार को रथ पर लेकर चला। रास्ते में उन्होंने टूटे दाँत, पके केश, टेढ़ा झुका शरीर, हाथ में लाठी लेकर काँपते एक वृद्ध को मार्ग से जाते हुए देखा। गौतम ने सारथि से पूछा, यह कौन है? सारथि ने कहा, कुमार, यह वृद्ध है। बुढ़ापे के कारण इसकी ऐसी दशा हो गयी है। बुढ़ापा क्या है? कुमार ने पूछा। कुमार, प्रत्येक मानव-शरीर की चार अवस्थाएँ होती हैं, बचपन, युवा, प्रौढ़ और बुढ़ापा, सारथि ने उत्तर दिया। कुमार ने कहा, तो क्या मुझे भी बूढ़ा होना पड़ेगा? सारथि ने कहा, हाँ कुमार, सभी मानवों की यह दशा होती है। गौतम ने दुखित होकर रथ महल वापस ले चलने की आज्ञा दी और वापस आ गये।

दूसरे दिन शहर भ्रमण जाते समय उन्होंने एक रोगी को देखा। उन्होंने वही प्रश्न सारथि से पूछा, क्या मैं भी रोगी होऊँगा? सारथि के हाँ कहने पर वे पुन: दुखी मन से महल में वापस आ गये।

तीसरे दिन मार्ग में उन्होंने कुछ रोते-बिलखते हुए लोगों को एक अर्थी के पीछे जाते हुए देखा। उन्होंने पूछा, ये लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं? सारथि ने कहा, इस अर्थी पर शव है। यह शव क्या है? यह व्यक्ति मर गया। अब यह किसी से मिल नहीं सकेगा, इसलिये इसके सगे-सम्बन्धी विलाप कर रहे हैं। क्या हमारी भी मृत्यु होगी? कुमार ने पूछा। सारथि ने कहा, हाँ कुमार, संसार के समस्त प्राणियों की मृत्यु अपरिहार्य है। राजकुमार अत्यन्त दुखित होकर पुन: महल वापस चले आते हैं।

गौतम का दुख चरम सीमा पर था। वे सोचने लगे कि क्या जीवन बुढ़ापा, रोग और मृत्यु के पाश पड़कर अन्त में शवशय्या के लिये ही है? कैसे इस बुढ़ापा, रुग्णता और मृत्यु के दुख से बचा जा सकता है? कैसे संसार के जीवों को इससे मुक्ति मिलेगी? कुमार घोर वेदना के साथ गहन चिन्तन में लग गये। अन्त में चौथे दिन उन्होंने एक मंडित काषायवस्त्रधारी संन्यासी को देखा। उन्होंने सारथि से पूछा, ये कौन हैं? सारथि ने कहा, कुमार ! ये मोह-माया से मुक्त ईश्वरपरायण परिव्राजक संन्यासी हैं। इन्होंने भव-बन्धनों से मुक्ति एवं लोककल्याण हेतु परिव्रजन पथ का अवलम्बन किया है। इतना सुनने के बाद राजकुमार गौतम पुन: महल में चले आते हैं और बाद में मानव-दुखों से मुक्तिमार्ग का
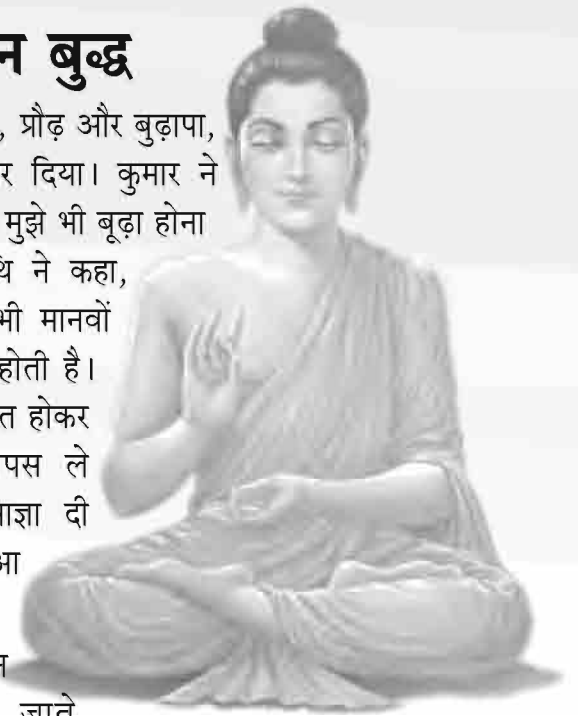
अन्वेषण करने के लिये एक रात अपनी पत्नी-पुत्र को सोते हुए छोड़कर महल से निकल जाते हैं। गहन वन में जाकर दृढ़ निश्चय करते हैं –

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते ।।

भले ही मेरा शरीरान्त हो जाए, लेकिन बहुकल्पदुर्लभ बोध-ज्ञान को प्राप्त किए बिना इस आसन से नहीं उठूँगा। इस सुदृढ़ निष्ठा से वे तपारम्भ करते हैं। कठोर तपस्या से अत्यन्त दुर्बल होने से उनकी साधना में विघ्न हुआ। सुजाता ने खीर खिलाकर उन्हें स्वस्थ किया। तबसे उन्होंने मध्यम मार्ग को अपनाया। बिहार के गया में बोधिवृक्ष की छाया में उन्हें दुखमुक्ति का मार्ग आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। सारनाथ में अपने तपस्यारत पाँच साथियों को उन्होंने प्रथम उपदेश दिया। पुन: कालान्तर में यह धर्म पूरे एशिया में विस्तृत होता है। बहुत से राजा-महाराजा बौद्ध धर्म स्वीकार करते हैं और प्रजा और पशुओं के प्रति अत्याचार को बन्द कर सेवा में लग जाते हैं। लाखों भिक्षु-भिक्षुणियाँ इस कठोर तपोव्रत को स्वीकार कर निर्वाण की साधना में संलग्न होती हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म तत्कालीन एशिया के एक बड़े भू-भाग का लोकप्रिय धर्म बन जाता है।

कलिंग के युद्ध में नर-संहार से सम्राट अशोक के व्यथित चित्त को शान्ति एक बौद्ध भिक्षु ने ही प्रदान कर उन्हें अहिंसाव्रत का संकल्प दिलाया। अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर अपने पुत्र कुमार महिन्द्रा और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु अन्य देशों में भेजा।

बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त

चार आर्य सत्य – १. दुख है २. दुख का कारण है ३. दुख का निदान है ४. दुख-निदान का मार्ग है

पंचशील – १. हत्या न करना २. चोरी न करना ३. व्यभिचार न करना ४. असत्य न बोलना ५. मद्यपान न करना

अष्टांग मार्ग – सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि।

पुण्य कर्म – सत्पात्र को दान, नैतिकता के नियमों का पालन, शुभ विचारों का अभ्यास और विकास, दूसरों की सेवा, माता-पिता और बड़ों की सेवा और उनका सम्मान करना, अपने पुण्य का भाग दूसरों को दें, दूसरे के द्वारा दिये गये पुण्य को स्वीकार करें, सम्यक्ता के सिद्धान्त का श्रवण करना और उसका प्रचार करना और अपनी त्रुटियों का सुधार करना।

इस धर्म की महानता के बारे में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''बौद्ध धर्म ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण धर्म है। ...क्योंकि वह संसार में होनेवाला बृहत्तम धार्मिक आन्दोलन था, मानव-समाज पर फूट पड़नेवाली विराटतम आध्यात्मिक लहर थी।''

भगवान बुद्ध के उपदेश

''धर्म के कल्याणकारी और प्रशान्तिदायी वचनों को सुनने के जिज्ञासु श्रोताओ! तुम चारों ओर एकत्र हो जाओ। अविश्वासियों को सत्यग्रहण करने के लिये जाग्रत करो और उन्हें हर्षोल्लास से पूर्ण कर दो। उन्हें प्रेरित करो, उन्हें उपदेश दो, उन्हें तब तक ऊँचे-से-ऊँचा उठाओ, जब तक वे सत्य को उसके समस्त वैभव और अनन्त गरिमा के साथ साक्षात्कार न कर लें।'' ''हजारों निरर्थक शब्दों की अपेक्षा वह एक उपयोगी वाक्य उत्तम है, जिसके सुनने से व्यक्ति शान्ति प्राप्त करता है।

भिक्षु का लक्षण बताते हुए भगवान बुद्ध कहते हैं – ''इस जीवन में जिसने पाप और पुण्य दोनों का परित्याग कर दिया है, जो पवित्र है, जो इस संसार में विवेकयुक्त होकर रहता है, वही वास्तविक भिक्षुक कहा जाता है। वह व्यक्ति जिसके हाथ, पैर, वाणी और मस्तिष्क संयमित हैं, वह व्यक्ति जिसे ध्यान में आनन्द आता है और जो प्रशान्त है, वह व्यक्ति जो एकाकी और आत्मतुष्ट है, उसे वे भिक्षु कहते हैं। जिसने छोटी-बड़ी दोनों प्रकार की बुराइयों का दमन कर लिया है, उसे ही तपस्वी कहा जाता है, क्योंकि उसने सभी बुराइयों को पराजित किया है।

हे भिक्षु! जब तक तुमने तृष्णाओं को समाप्त नहीं किया है, तब तक तुम सन्तुष्ट मत हो। पाप-भावना की समाप्ति ही सबसे बड़ा धर्म है। शरीर का संयम अच्छा है, वाणी का संयम अच्छा है, मन का संयम अच्छा है, सर्वत्र संयम अच्छा है। जो संन्यासी सभी में संयम करता है, वह सभी प्रकार के दुखों से मुक्त हो जाता है।''

इस प्रकार भगवान ने करुणाविगलित होकर लोगों को दुखमुक्ति का महामन्त्र प्रदान किया, जो आज भी नभमंडल में निनादित होता रहता है – **बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि।** ○○○

भगवान बुद्ध और उनका धर्म

स्वामी विवेकानन्द
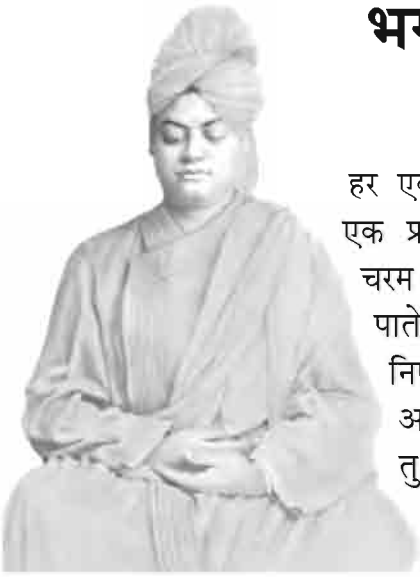
हर एक धर्म में हम किसी एक प्रकार की साधना को चरम सीमा पर पहुँची हुई पाते हैं। बौद्ध धर्म में निष्काम कर्म का भाव अत्यन्त विकसित है। तुम लोग बौद्ध तथा ब्राह्म धर्म को समझने में भूल न करो। बौद्ध धर्म हमारे सम्प्रदायों में से एक है। भारतीय वर्णव्यवस्था, कठिन कर्मकाण्ड एवं दार्शनिक वाद-विवाद से ऊबकर गौतम नामक एक महापुरुष ने बौद्ध धर्म की स्थापना की। कुछ लोग कहते हैं कि हमारा एक विशेष कुल में जन्म हुआ है और इसलिए हम उन लोगों से श्रेष्ठ हैं, जिनका जन्म ऐसे वंश में नहीं हुआ। भगवान बुद्ध का इस सिद्धान्त में कोई विश्वास न था, वे इस प्रकार के जातिभेद के विरोधी थे और पुरोहित लोग धर्म के नाम पर जो कपटाचरण द्वारा स्वार्थ-सिद्धि करते थे, इसके भी वे घोर विरोधी थे। इसलिए, उन्होंने एक ऐसे धर्म का प्रचार किया, जिसमें कामनाओं तथा वासनाओं के लिये स्थान न था। वे दर्शन तथा ईश्वर के सम्बन्ध में सम्पूर्ण अज्ञेयवादी थे।

उनसे कई बार ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे गये, पर उन्होंने यही उत्तर दिया, ''मैं नहीं जानता।'' उनसे पूछा गया कि मनुष्य का प्रकृत कर्तव्य क्या है। उन्होंने कहा, ''शुभचरित्र बनो और शुभ कर्म करो ।'' एक बार पाँच ब्राह्मणों ने आकर उनसे विनती की, ''भगवन् हमारे वाद-विवाद का न्याय कीजिए ।' उनमें से एक ने कहा, ''भगवन् मेरे शास्त्रों में ईश्वर का यह स्वरूप बतलाया गया है और उसकी प्राप्ति के लिये यह मार्ग दर्शाया गया है ।'' दूसरे ब्राह्मण ने कहा, ''नहीं, यह सब मिथ्या है, क्योंकि मेरे शास्त्र में इसके विपरीत लिखा है और ईश्वरप्राप्ति का अन्य मार्ग बतलाया गया है ।'' इस प्रकार दूसरों ने भी शास्त्रों की दुहाई देकर ईश्वर के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में अपने-अपने मत प्रगट किये। बुद्धदेव यह विवाद शान्तिपूर्वक सुनकर उनसे क्रमश: पूछने लगे, ''क्या किसी के शास्त्र में यह भी कथन है कि ईश्वर कभी क्रोध करता है, किसी की हानि करता है या अशुद्ध है?'' उन सब ने कहा, ''नहीं भगवन्, हमारे सभी शास्त्र यही कहते है कि ईश्वर शुद्ध, विकार रहित और कल्याणकर है ।'' तब भगवान् बुद्ध बोले, ''मित्रों, तब तुम पहले शुद्ध और सदाचारी बनने की चेष्टा क्यों नहीं करते, जिससे तुम्हें ईश्वर का ज्ञान हो सके?''

... बुद्ध ही एक व्यक्ति थे, जो पूर्णतया तथा यथार्थ में निष्काम कहे जा सकते हैं । ऐसे अन्य कई महापुरुष थे, जो अपने को ईश्वर का अवतार कहते थे और विश्वास दिलाते थे कि जो उनमें श्रद्धा रखेंगे, वे स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे। पर बुद्ध के अधरों पर अन्तिम क्षण तक ये ही शब्द थे, 'अपनी उन्नति अपने ही प्रयत्न से होगी। अन्य कोई इसमें तुम्हारा सहायक नहीं हो सकता। स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।' अपने सम्बन्ध में भगवान बुद्ध कहा करते थे, 'बुद्ध शब्द का अर्थ है – आकाश के समान अनन्त ज्ञान सम्पन्न, मुझ गौतम को यह अवस्था प्राप्त हो गयी है। तुम भी यदि प्राणपण से प्रयत्न करो, तो उस स्थिति को प्राप्त कर सकते हो । 'बुद्ध ने अपनी सब कामनाओं पर विजय पा ली थी। उन्हें स्वर्ग जाने की कोई लालसा न थी और न ऐश्वर्य की ही कोई कामना थी। अपने राज-पाट और सब प्रकार के सुखों को तिलांजलि दे, इस राजकुमार ने अपना सिन्धु-सा विशाल हृदय लेकर नर-नारी तथा जीव-जन्तुओं के कल्याण हेतु, आर्यावर्त की वीथी-वीथी में भ्रमण कर भिक्षा वृत्ति से जीवन निर्वाह करते हुए अपने उपदेशों का प्रचार किया। जगत में वे ही एकमात्र ऐसे हैं, जो यज्ञों में पशुबलि-निवारण के लिये किसी प्राणी के जीवन की रक्षा के लिये अपना जीवन भी निछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होंने एक राजा से कहा, ''यदि किसी निरीह पशु के होम करने से तुम्हें स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है, तो मनुष्य के होम से किसी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन् उस पशु के पाश काटकर मेरी आहुति दे दो – शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके।'' राजा स्तब्ध हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान बुद्ध पूर्ण रूप से निष्काम थे । वे कर्मयोग के ज्वलन्त आदर्श स्वरूप थे और जिस उच्चावस्था पर वे पहुँच गये थे, उससे प्रतीत होता है कि कर्म शक्ति द्वारा हम भी उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। ○○○
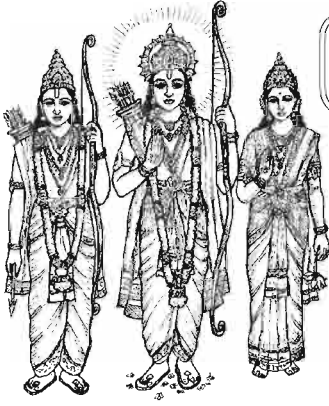
धर्म-जीवन का रहस्य (९/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक प्रवचन को 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी और सम्पादन 'विवेक-ज्योति' के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी व्यंग्य-भरी भाषा में कहते हैं – एक दिन ब्रह्माजी कैलाश में आए और पार्वतीजी को प्रणाम किया। उन्होंने शंकरजी को प्रणाम नहीं किया। शंकरजी मुस्कुराए – कहीं ये मुझ पर रुष्ट तो नहीं हो गये हैं। परन्तु ब्रह्माजी ने माता पार्वती से कहा – देखिए, इस पागल को तो मैं प्रणाम नहीं करूँगा। इन्होंने मेरे लिए इतनी समस्याएँ पैदा कर दी हैं। मैं इन्हें एक उपाधि दूँगा। बोले – तुम्हारा यह पति पागल है –

बावरो रावरो नाह भवानी ।। विनय. ५

मुझे विश्वास है कि तुम बुद्धिमती हो। तुम एक काम करो। मैं त्यागपत्र लेकर आया हूँ। तुम इसे स्वीकार कर लो और किसी अन्य को ब्रह्मा बना दो। क्योंकि ये तो, जो भी आता है, कभी किसी को इन्द्र बना देते हैं, किसी को देवता बना देते हैं, किसी को अमर बना देते हैं। वरदान देने के बाद ये मेरे पास आज्ञापत्र भेज देते हैं कि मैंने इसको इन्द्र का पद दिया है, यदि पुराने स्वर्ग में स्थान खाली न हो, तो इसके लिए एक नया स्वर्ग बना दो। मैं तो बड़े संकट में हूँ। हमारे यहाँ कर्म-सिद्धान्त का जो खाता है, उसको तो ये कभी पढ़ते नहीं। हमारे यहाँ तो नियम है – जिसने जैसा कर्म किया है, उसे उसका फल भोगना होगा –

जो जस करइ सो तस फलु चाखा ।। २/२१८/४

और ये क्या करते है? भक्तों ने बड़ी भावमयी कल्पना की है। यदि आप बार-बार अपना सिर जमीन पर पटकें, प्रणाम करें, तो वहाँ एक काला-सा चिह्न बन जाता है। भक्तों ने उसको एक नया अर्थ दिया – नियम यह है कि यदि कहीं कुछ लिखा हुआ हो और लिखने वाले को लगे कि कोई शब्द छूट गया है, तो वह तुरन्त वहाँ एक काला-सा चिह्न बनाता है और वह छूटा हुआ शब्द ऊपर लिख देता है। ब्रह्माजी बोले – जब इनको कोई प्रणाम करता है, तो उसके सिर पर जो काला चिह्न बन जाता है, उसे देखकर इन्हें लगता है कि जो छूट गया है, उसे लिख देना अच्छा रहेगा। ये पहले का लिखा पढ़ते ही नहीं और नया कुछ-का-कुछ लिख डालते हैं – मेरे तो नाक दम आ गया है –

तिन रंकन को नाक सँवारत
हौं आयौं नकवानी ।। विनय. ५/३

निन्दा की आड़ में जो स्तुति की जाती है, उसे संस्कृत में 'ब्याज-स्तुति' कहते हैं। कभी स्तुति के माध्यम से निन्दा की जाती है और कभी निन्दा के माध्यम से स्तुति की जाती है। ब्रह्माजी का तात्पर्य तो यह था कि इनकी प्रशंसा तो कर नहीं सकते, अत: निन्दा के माध्यम से ही इनकी उदारता, दानशीलता तथा भोलापन प्रकट करें। सुनकर पार्वतीजी ने मुस्कुराते हुए शंकरजी की ओर देखा, पर वे तो अपनी ही मस्ती में डूबे हुए हैं –

प्रेम प्रसंसा बिनय व्यंग जुत
सुनि बिधि की प्रिय बानि ।
तुलसी मुदित महेस मनहि मन
जगत मात मुसुकानि ।। विनय. ५/

असुर सोचते हैं कि शंकर ही सबसे अच्छे हैं, हमारे लिए आराध्य हैं और पूज्य हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से शिवजी के दो रूप हैं। एक रूप में वे मूर्तिमान अहंकार हैं और दूसरे रूप में वे मूर्तिमान विश्वास हैं। रामायण में उनके दोनों रूपों के संकेत मिलते हैं।

अहंकार सिव बुद्धि अज
मन ससि चित्त महान ।। ६/१५ क

और दूसरा आपने सुना ही है –

भवानी-शंकरौ वन्दे
श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ ।। १/२

उन्हें अहंकार कहने से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। यह व्यष्टि अहंकार के रूप में अहं नहीं है। जो समष्टि चेतना का अहं है, वही मूर्तिमान शिव है। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि असुर कभी विश्वास के रूप में शिव को नहीं

देखता। वह व्यष्टि चेतना के अहंकार द्वारा अपने उद्देश्य की सिद्धि करना चाहता है। व्यष्टि और समष्टि अहंकार के बीच जो सम्बन्ध है, इसका गहन तात्पर्य यह है कि व्यष्टि के द्वारा कोई क्रिया की जायेगी, तो उसे समष्टि के द्वारा उसका परिणाम मिल जाता है। असुरों से भूल यहीं होती है, जब वे सोचते हैं कि मैं इन्हें ठग लूँगा। परन्तु जब भी उन्हें ठगने की चेष्टा की गयी, तो बीच में भगवान विष्णु या ब्रह्माजी आ जाते हैं। बुद्धि अज – ब्रह्माजी को विवेक का देवता बताया गया है।

रावण जब शंकरजी की आराधना करता है, तो विश्वास के रूप में नहीं, अपितु अहं का परिणाम देने वाले महादेव के रूप में करता है। शंकरजी जब रावण के सामने आये, तो वह उनके साथ ब्रह्माजी को देखकर थोड़ा चकित हुआ। वह सोचने लगा – ब्रह्मा आए हैं, कहीं गड़बड़ी तो नहीं पैदा करेंगे? कहीं हमारी बात को काट न दें। तो भी रावण तो साक्षात् अहंकार का ही रूप था। वह गिनने लगा – शंकरजी के पाँच सिर हैं और ब्रह्मा के चार सिर। हिसाब लगाकर प्रसन्न हो गया। बोला – यदि दोनों के सिर मिल भी जायँ, तो नौ ही होंगे, परन्तु यहाँ तो दस सिरवाला है, इनमें मुझसे अधिक बुद्धि है क्या? बुद्धिमान भले ही होंगे, परन्तु हमसे अधिक बुद्धिमान तो कदापि नहीं हो सकते।

नौ और दस से ही क्रम प्रारम्भ हुआ। दस ने साधना की और नौ सामने आ गया। यदि रावण ने उस गणित को ठीक-ठीक समझ लिया होता कि दस का फल तो नौ ही है, तो वह धन्य हो जाता है। यदि वह भगवान शिव को अहं के रूप में नहीं, अपितु मूर्तिमान विश्वास के रूप में देखता, तो उसे भक्ति की प्राप्ति हो जाती, क्योंकि विश्वास का फल भक्ति है –

बिनु बिस्वास भगति नहिं
तेहि बिनु द्रवहि न रामु ।। ७/९० क

यदि वह ब्रह्माजी को विवेक के रूप में देखता, तो उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती, क्योंकि विवेक का फल ज्ञान है। जब दोनों आकर खड़े हुए, तो संकेत यह था कि विवेक (ज्ञान) माँगो, या विश्वास (भक्ति) माँग लो।

कवितावली रामायण में गोस्वामीजी ने बताया है कि शंकरजी दे तो देते हैं, लेकिन जब देने आते हैं, तो त्याग-वैराग्य की प्रतिमूर्ति के रूप में आते हैं। एक व्यक्ति ने शंकरजी की पूजा की और वे नग्न रूप में आकर खड़े हो गये। देखकर वह तो मौन ही रह गया। बोल ही नहीं रहा है। शंकरजी ने कहा – भाई, तुमने मेरा स्मरण किया, बोलते क्यों नहीं? वह बोला – "महाराज, मैंने तो माँगने के लिए आपको बुलाया था, परन्तु आपको देखकर अब यह निर्णय करना कठिन हो रहा है कि मुझे आपसे माँगना चाहिए या देना चाहिए? जब आपके पास पहनने के लिए कपड़े नहीं हैं, कोई पात्र नहीं है, तो हम आपसे क्या माँगें?" शंकरजी हँसने लगे। बोले – नहीं, नहीं, कोई कमी नहीं है। माँगो, संकोच छोड़कर माँगो। लेकिन मेरी एक ही सम्मति है। – क्या? – मुझसे माँगना, तो थोड़ा मत माँगना। थोड़ा चाहिये हो, तो किसी दूसरे से माँग लेना। मुझसे माँगना, तो अधिक ही माँगना –

नागो फिरै कहै मागनो देखि, 'न खाँगो कछु',
जनि माँगिये थोरो ।। कवितावली, उत्त. १५३

जो आसुरी बुद्धिवाला है, वही थोड़े और बहुत का अर्थ लेता है। यदि कोई किसी भी माँगने वाले से कह दे कि तुम अधिक माँगो, कम मत माँगो; तो वह एक हजार माँगने गया होगा, तो दस हजार माँग लेगा, एक लाख माँग लेगा। परन्तु शंकरजी का तात्पर्य क्या है? रामायण में भगवान राम ने व्याख्या की – संसार के भोग तो थोड़े हैं ही, स्वर्ग का सुख भी थोड़ा ही है –

स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई ।। ७/४३/१

भगवान शंकर सोचते हैं कि यह भक्ति माँग लेता, तो कितना अच्छा होता! इसलिए वे कह तो देते हैं, पर सामने वाला समझ नहीं पाता। यही सांकेतिक भाषा है। शंकरजी विवेक तथा विश्वास हैं और नवधा भक्ति के मूर्तिमान रूप हैं। रावण यदि विवेक या विश्वास माँग लेता या नवधा भक्ति माँग लेता, तो धन्य हो जाता। परन्तु रावण अभागा है। शंकरजी जब लौटे, तो पार्वतीजी ने पूछा – जिसकी तपस्या से प्रभावित होकर गये थे, उसने क्या माँगा? उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया – उसने मुझसे वरदान माँगा कि मेरी मृत्यु मनुष्य के हाथ से हो।

पार्वतीजी चकित हो गईं। क्या कोई यही वरदान माँगने के लिए तपस्या करेगा कि मैं मनुष्य के हाथ से मरूँ? शंकरजी बोले – नहीं, माँगा तो उसने कुछ दूसरा ही, परन्तु तात्पर्य उसका यही था। – क्या? देखिए न, शरीर को सुखा दिया, परन्तु क्या पाने के लिए? सिर काटकर चढ़ा दिया, क्या पाने के लिए? उसकी योजना थी कि दूसरों का सिर काटना है; और मैं जिसका सिर काटूँगा, वह भी तो मेरा सिर काटने की चेष्टा करेगा। अत: ऐसा वरदान मिल जाय

कि उसका सिर तो कटे, पर मेरा न कटे, तो बड़ा अच्छा होगा। उसकी सारी तपस्या, सारा त्याग इसी के लिए था कि वह दूसरों का सिर काट सके। और जब वह अपने शरीर को सुखाता है, तो माँगता क्या है? – हम किसी के मारने पर न मरें –

हम काहू के मरहिं न मारे।। १/१७६/४

उसने यह नहीं कहा कि हम मनुष्य के हाथ से मरें। कहा – हम किसी के मारने से न मरे। पर ब्रह्माजी साथ में थे, इसलिये उन्होंने जरा-सी आपत्ति लगा दी। बोले – सृष्टि में कोई अमर नहीं हो सकता। उसने सोचा – इस बुद्धिमान ब्रह्मा को मैं अभी परास्त करता हूँ। उसने गणित किया कि बन्दर और मनुष्य तो हमारे भोज्य-पदार्थ हैं –

नर कपि भालु अहार हमारा।। ६/८/९

भोजन से तो शक्ति बढ़ती है, इसलिए ऐसा कह देने में क्या हानि है कि बन्दर और मनुष्य को छोड़कर अन्य किसी के हाथ से न मरें –

हम काहू के मरहिं न मारें।
बानर मनुज जाति दुइ बारें।। १/१७७/४

अर्थात् बन्दर तथा मनुष्य को तो खा-पचाकर हम स्वस्थ होंगे। अब समस्या केवल देवताओं से रह गई, हम उनसे न मरें। शंकरजी ने हँसकर इसकी व्याख्या की – क्या बतायें, इतनी साधना करने के बाद भी उसने ऐसा कह दिया; पहले तो पता नहीं था कि किससे मृत्यु होगी, परन्तु उसने बानर और मनुष्य की सीमा बनाकर बता दिया कि मैं इन्हीं में से किसी के हाथ से मरूँगा।

वही दुर्योधन वाली बात यहाँ भी आ गयी। महाभारत की भी वही समस्या है। गांधारी महान धार्मिक और पतिव्रता मानी जाती है। पर गांधारी महान् हैं या कुन्ती? उस समय कुन्ती की गणना तो गांधारी के समान महासती के रूप में नहीं की गई। परन्तु अन्तर क्या है? हमारा आदर्श गांधारी नहीं, कुन्ती हैं। गांधारी ने कहा था – "पुत्र दुर्योधन, तुम नग्न होकर आओ। आज तक मैंने संसार में कोई वस्तु नहीं देखी और आज मैं तुम्हारे लिए अपनी दृष्टिशक्ति का प्रयोग करूँगी, अपने पातिव्रत और तपस्या का प्रयोग करूँगी।"

दुर्योधन मूर्तिमान अभिमान है। इतिहास में दुर्योधन का जो रूप है, वैसा शायद किसी दूसरे का नहीं है। यहाँ धर्म का एक सूत्र है। आज पातिव्रत-धर्म का उपयोग अभिमान को अमर बनाने के लिये किया जा रहा है। सूत्र बड़े महत्त्व का है। धर्म का फल क्या यही है? पातिव्रत का फल क्या यही है कि अहंकार अमर हो जाय? अहंकार अमर होकर दूसरों को मारता रहे, अन्याय और अधर्म करता रहे?

धर्म के साथ यही समस्या है। लेकिन वह शक्ति तो है ही। कोई जब भी क्रिया करेगा, तो वहाँ शक्ति अवश्य प्रगट होगी। तपस्या करने से, व्रत लेने से शक्ति तो आती ही है, परन्तु महत्त्व की बात यह है कि उस शक्ति का उपयोग आप कैसे करते हैं? गांधारी ने इतने दिनों तक अपनी आँखें नहीं खोली थीं। आज दुर्योधन हार रहा है, अहंकार हार रहा है, तो वे उसे नग्न होकर आने की आज्ञा देती हैं।

दुर्योधन ने ऐसा प्रबन्ध कर लिया कि सारे वस्त्र उतारकर जिस कमरे से निकलकर माँ गांधारी के कमरे तक जाऊँगा, उसके बीच में कोई देख न सके। यही सत्य है। दुर्योधन जैसे व्यक्ति, जो दूसरे को नग्न करना जानते हैं, उन्हें स्वयं को नग्न करना कहाँ आता है? द्रौपदी को नग्न करने की चेष्टा में ही तो यह इतना बड़ा युद्ध हुआ। परन्तु लगता है कि आज उसे सद्बुद्धि आ गई। नग्न हो रहा है। परन्तु वही आशंका – नग्न तो होऊँ, मगर कोई देख न ले। यदि नग्न होने में अपने स्वार्थ की सिद्धि है, तो वह भी ठीक है।

भगवान कृष्ण बड़े अद्भुत कौतुकी हैं। उसके सामने प्रगट हो गये। उनको देखते ही दुर्योधन लज्जा के मारे बैठ गया। कैसी विडम्बना है। ईश्वर के सामने नग्न होना, तो सबसे आवश्यक है। जो नग्न नहीं होना चाहता, उसको भी ईश्वर नग्न कर देता है। गोपियों का वस्त्र ही चुरा लिया। कह दिया – तुम लोग नग्न होकर आओगी, तभी तुम्हारे वस्त्र देंगे। ईश्वर आवरण से मुक्त कर देता है और उसी के सामने नग्न होना भी सार्थक है। लेकिन जिसके समक्ष नग्नता सार्थक है, उसी के सामने दुर्योधन लज्जा से बैठ गया। भगवान हँसने लगे, बोले – यह क्या? उसने कहा – महाराज, क्या करूँ, माँ की आज्ञा है, मुझे ऐसा करना पड़ा। भगवान हँसते हुए व्यंग्य-भरी भाषा में बोले – तुम्हारे जैसा आज्ञाकारी पुत्र दूसरा कौन हो सकता है! इसमें व्यंग्य था – आज तक माता-पिता ने इतनी बार आज्ञा दी, पर तुमने कभी नहीं माना; और आज महान आज्ञाकारी बन गये! **(क्रमशः)**
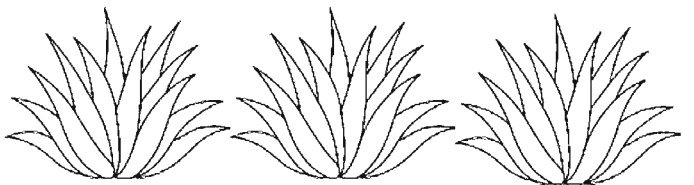
सारगाछी की स्मृतियाँ (४३)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

स्वामी प्रेमेशानन्द

मई - २०१६

ऐसे किसी युवक को खोजकर दिखाओ, जो कार्य करने के प्रति आकर्षण नहीं रखता, किन्तु उसके स्वभाव को देखकर उपयुक्त कार्य देने पर दुगने उत्साह से कार्य करता हो। किन्तु तमोगुणी लोगों पर निगरानी रखनी होती है, आवश्यकता पड़ने पर थोड़ी डाँट-फटकार भी करनी पड़ती है। कार्य की जानकारी न होने पर उसे बता देना पड़ता है। साथ-साथ सिखाना पड़ता है। उसकी त्रुटि अपने पास छिपा लेनी पड़ती है, जिससे वह समझ सके कि ये मेरे हितैषी हैं। गोपाल बचपन से ही मेरे पास था। मैं भोजन पकाता था और अपनी सहायता हेतु उससे कहता था। कुछ दिनों बाद उससे पानी गरम हो जाने पर चावल डालने को कहा। कहकर मैं दूसरे कार्य हेतु चला जाता। एक माह बाद देखा कि मुझसे भी अच्छा भोजन पकाने लगा। अचिन्त्य थोड़ी उपेक्षा भी करता था। उसे एक दिन बुलाकर सेवा के प्रयोजन के सम्बन्ध में समझाकर बताया, किन्तु देखते ही देखते वह कार्य में बहुत मतवाला हो गया।

साधुओं का पतन होता है – यह भी एक स्वाभाविक बात है। उनके प्रति सम्मान तो बराबर रहेगा ही, किन्तु नए शिक्षार्थियों के निकट उच्च आदर्श नहीं रखने से उनका जीवन कैसे गठित होगा? पहले कोई कार्य करके न आने के कारण और आत्मविश्लेषण के अभाव के कारण पतन होता है। उसके बाद वे दुगुने उत्साह से साधन-भजन में मतवाले हो उठते हैं, फिर वे किसी का अपमान नहीं करते।

साधुओं में कोई-कोई लोकप्रिय हो जाते हैं। उनके पास अनेक लोग आते-जाते हैं; इससे अन्य साधुओं को ईर्ष्या होती है। ईश्वर को छोड़कर संसार की ओर ध्यान देने से यही सब समस्याएँ आती हैं।

०९-०९-१९६०

तुम जब भ्रूण अवस्था में थे, तो कैसे थे, बताओ तो?

तुम क्या हिन्दू थे, मुसलमान थे, बंगाली थे या बिहारी? तब तुम्हारी एक ही सत्ता थी – तुम्हारा केवल एक 'मैं' था। इसको ही कहते हैं होश या चेतना।

जब जहाँ रहो, वहाँ की रीति-नीति (आचार-विचार) अपने में समाहित कर लेना होगा। काशी में अनेक साधु बीस वर्षों से रहते हैं, किन्तु हिन्दी नहीं जानते। लेकिन ईसाई पादरी संथाली भाषा सीखकर उन्हें शिक्षा देते हैं। कानपुर जो जायेगा, मानो वह पूरी तरह कानपुरी हो जायेगा। तभी तो साधु है।

साधुओं को बहुत सावधान रहना होता है। मैंने ऐसे अनेक साधु देखे हैं, जिनमें केवल दो चीजें ही प्रमुख होती हैं – पहला – प्रणाम, दूसरा-प्रणामी। कभी-कभी साधुलोग कर्म की दुहाई देकर कितने नीचे चले जाते हैं, सोच नहीं सकते हो। श्रीधर स्वामी का यह श्लोक याद है? बोलो तो।

''प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुना कलहोत्सुकाः।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैव संदूषिताशयाः।।
अव्रता वटवोऽशौचाः भिक्षवश्च कुटुम्बिनः।
तपस्विनो ग्रामवासाः न्यासिनः अत्यर्थलोलुपाः।।''

१०-०९-६०

प्रश्न – समाज-सुधार क्या संन्यासी का कार्य है?

महाराज – बिलकुल नहीं। फिर भी वह सब कार्य जिस प्रकार ठीक ढंग से हो सके, दूर से उस पर दृष्टि रखनी होगी। उपयुक्त लोगों को तैयार करके उनके हाथों में इन सब कार्यों का भार देना होगा तथा इस पर निगरानी रखनी होगी कि कार्य सुचारु ढंग से हो रहा है या नहीं।

हमारे देश में अभी भी सच्चे नेतृत्व करनेवाले नायक तैयार नहीं हो पाए हैं। जितने लोगों को देख रहे हो, ये सभी सामान्य कर्मचारी की श्रेणी के हैं। केवल स्वयं ही काम में लगे रहना चाहते हैं। जानते हो कैसे? एक व्यक्ति के ऊपर खेती का भार है। सम्भवत: उसने बैगन लगाया है। मालिक ने जाकर बैगन के खेत के बीच में दो खीरा लगा दिया। उसने अपना अधिकार दिखा दिया कि तुम्हारा काम केवल इस खेत की देखभाल करना है। उससे खेत को हानि हुई या लाभ हुआ, उस ओर कोई दृष्टि नहीं है। जो नेता होगा, वह सबके पीछे रहेगा। पीछे रहकर सबका कार्य देखेगा। जिसे भी कोई कठिनाई होगी, नेता उसे थोड़ा सुधारकर चला आयेगा। उसके बाद वहाँ कार्यरत व्यक्ति काम चला लेगा। नेता को बिलकुल अपना अहंकार भूलकर सबके साथ एक होकर रहना होगा।

सब कार्य मानो एक इकाई होगी। तुम ठाकुर-पूजा करते हो, सम्भवत: जाने में देर हो गयी। क्या है, मैं तुम्हारी सहायता के लिये गया और जल्दी से तुम्हारा काम समाप्त कर आ गया। तुम फिर मेरे कार्य में सहायता के लिए आए।

मानो सब एक-एक कार्य करते हैं। किन्तु यह भाव वहाँ चलता है, जहाँ चार-पाँच लोग होते हैं। अधिक लोगों के होने पर दूसरे प्रकार का हो जाता है। हमारे सब साधु विश्वविद्यालयों की उपाधि प्राप्त हैं। देखो, साधु अच्छे हैं। त्याग, तपस्या, ज्ञान-भक्ति की कमी नहीं है, किन्तु दस लोगों द्वारा मिल-जुलकर समीक्षा करके कार्य करना, ये साधुलोग नहीं जानते। नेता तैयार नहीं किया जाता, नेता जन्म से ही होता है।

ट्रेनिंग या प्रशिक्षण क्या केवल पुस्तक पढ़ने से होता है? खेल-कूद, सबके साथ मिल-जुलकर कार्य करना, यही ठीक शिक्षा है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को देखकर एक व्यक्ति ने कहा था – यहाँ पढ़ाई होती है कब? केवल प्रतियोगिता, खेलकूद, आयोजन, एक साथ बैठना, खाना-पीना, यही सब। असली बात है दो शिराएँ – sensory and motor nerves – संवेदनात्मक और प्रेरणात्मक। दोनों के तालबद्ध चलने पर ही ठीक शिक्षा होती है। **(क्रमश:)**

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

२८१. मनुष्य का परम धर्म सच्चरित्रता है

एक बार भगवान महावीर से जयन्ती नामक स्त्री ने पूछा – मनुष्य के अध:पतन का क्या कारण है?'' महावीर जी ने उत्तर दिया – यह तो बड़ा सरल प्रश्न है। मनुष्य पाप-कर्म करके स्वयं ही पतन की ओर जाता रहता है। उसे हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह जैसे पापकर्मों से बचना चाहिए।''

''क्या जीव पुण्य कर्मों से भारी नहीं होते?'' प्रश्न करने पर तीर्थंकर ने जवाब दिया। भार पाप-पुण्य दोनों का होता है। जिस प्रकार भिश्ती के चमड़े के थैले में हवा भरकर पानी में छोड़ने पर वह तैरने लगता है, लेकिन मिट्टी भरा यही थैला पानी में डूब जाता है। उसी प्रकार पुण्य कर्म मनुष्य को भवसागर में डूबने से बचाते हैं, जबकि पाप कर्म उसे उबरने नहीं देते।''

जयन्ती का पूर्णरूप से समाधान न होने पर उसने पुन: प्रश्न किया, 'क्या कोई पापी किसी ज्ञानी पुरुष के उपदेशों को ग्रहण करने से मोक्ष पाने का अधिकारी हो सकता है?'' 'कदापि नहीं', तीर्थंकर ने कहा, ''जैसा कि मैंने बताया, पाप कर्मों का बोझ इतना भारी होता है कि मनुष्य मोक्ष पाने के अयोग्य हो जाता है। इसे एक और उदाहरण से स्पष्ट करना चाहूँगा। मुंग के कुछ दाने ऐसे होते हैं, जिन्हें कितना भी उबाले, वे उबलते नहीं। ऐसा उनकी अयोग्यता के कारण होता है। इसी तरह अयोग्य व्यक्ति को कितना भी ज्ञानोपदेश दिया जाए, उन पर कोई असर नहीं पड़ता, क्योंकि वे अपने सिद्धान्तों से हटना नहीं चाहते। सत्कर्म, सदाचरण और सद्व्यवहार मानवीयता के आवश्यक तत्त्व हैं तथा यही हमें पापकर्मों से मुक्त करते हैं। इस विवेचन से जयन्ती के मन में कोई शंका न रही और वह सन्तुष्ट होकर चली गई।

सच्चरित्रता मनुष्य का परम धर्म है और सदाचार उसका प्रथम सोपान है। हमारे आचरण और व्यवहार के आधार पर हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। सत्यवादिता, स्नेह, सद्भाव, सेवा, सहिष्णुता, संयम आदि सात्विक गुण पुण्य कर्म हैं, जबकि ईर्ष्या, असूया, लोभ, मोह आसक्ति, असत्य वाणी, मद, दंभ, चोरी आदि पापकर्म हैं। जिस प्रकार बीज की योग्यता के अनुसार फल तैयार होता है, उसी प्रकार पापकर्मों से आत्मा का पतन और पुण्यकर्मों से आत्मा का उत्कर्ष होता है। ○○○

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द रामकृष्ण मठ-मिशन के प्रथम संघाध्यक्ष थे। १० फरवरी, १९७८ ई. को उनकी जन्मतिथि पर ये संस्मरण रामकृष्ण मिशन, मुम्बई में दशम संघाध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने सुनाये थे। इसका अनुलेखन अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त-केसरी' के फरवरी, १९८४ के अंक में प्रकाशित हुआ था, वहीं से स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने उसका विवेक-ज्योति के लिए हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

मैं यहाँ पर कोई सुनियोजित व्याख्यान नहीं दूँगा। स्वामी ब्रह्मानन्दजी के जीवन की जो घटनाएँ मेरे स्मृति-भण्डार में संचित हैं, उन्हीं में से कुछ का वर्णन करूँगा। ये घटनाएँ साठ या उससे भी अधिक वर्ष पूर्व घटी थीं।

श्रीरामकृष्ण को यदि पुस्तकालय संस्करण कहा जाय तो राजा महाराज उसके पॉकेट संस्करण थे। कई दृष्टियों से वे श्रीरामकृष्ण के ही लघु प्रतिरूप थे। उनके बीच सादृश्य इतना अधिक था कि कोई-कोई उन्हें पीछे से देखकर भ्रान्तिवश श्रीरामकृष्ण ही समझ बैठते थे।

राजा महाराज के चरित्र का खास वैशिष्ट्य यह था कि उनका मन प्राय: सर्वदा ही इस जगत् से परे विचरण करता रहता था किसी अन्य राज्य में ही डूबा रहता था। बाह्य जगत् का बोध उन्हें काफी कम रहा करता था। अधिकांश समय वे चेतना के उच्चतम स्तर में निवास करते थे। कभी-कभी वे अपने सेवक को हुक्के में तम्बाकू सजा लाने का आदेश देते। सेवक जब हुक्का लाकर रखता तो उनका मन और ही कहीं रहता। थोड़ी देर बाद वे सेवक को पुन: बुलाकर पूछते – "तुमने मुझे तम्बाकू लाकर क्यों नहीं दिया?" उन्हें बाह्य जगत् का बोध बिल्कुल भी न रहता था। जब तक तम्बाकू पुन: लायी जाती वे पुन: अपने-आप में डूब चुके होते और तम्बाकू सुलगते हुए राख हो जाती। इस प्रकार हम देखते कि उनका मन बाह्य परिवेश से यत्किंचित् ही युक्त रहता।

यद्यपि उन्होंने कॉलेज या विश्वविद्यालय की पढ़ाई नहीं की थी, तथापि उन्हें अनेक विषयों का अच्छा ज्ञान था। उनके मद्रास प्रवासकाल में मठ 'वाणी-विलास' भवन में था। मुझे अब भी स्मरण है कि संध्या-आरती के पश्चात् महाराज उस भवन के खुले बरामदे में बैठकर भक्तों के साथ वार्तालाप किया करते थे। उस समय बहुत-से भक्त उनके पास आकर बैठते और महाराज उनके साथ विविध विषयों तथा यदा-कदा धर्म पर भी चर्चा किया करते। तथापि उस समय उनके पास बैठना बड़ा अच्छा लगता था और वहाँ से उठने की इच्छा ही न होती थी। उन दिनों प्रथम विश्वयुद्ध जारी था। शिवराम अय्यर (बाद में स्वामी अविनाशानन्द) प्रतिदिन शाम को प्राय: ७-८ बजे महाराज के पास आया करते थे। वे दक्षिण भारत के एक उत्कृष्ट (आंग्ल) दैनिक 'हिन्दू' के उप-सम्पादकों में एक थे। उनके आते ही महाराज पूछते, "युद्ध का क्या हाल है? जर्मन सेना अब कहाँ तक पहुँची है? कल तक तो वे ब्रिटिश सेना से इतने मील दूर थे, आज वे लोग कहाँ तक पहुँचे?" वे इसी प्रकार के प्रश्न किया करते। उन्हें जर्मन व आंग्ल सेना की गतिविधियों का पूरा ज्ञान रहता था और वे शिवराम अय्यर से भी पूछकर नवीनतम संवाद जान लेते थे।

फिर वहाँ एक अन्य सज्जन भी आया करते थे, जो किसी सहकारी बैंक के प्रबन्धक थे। राजा महाराज बहुधा उनके साथ वार्तालाप किया करते और प्रश्न पूछ-पूछ कर बैंकिंग तथा सहकारी संस्थाओं के सम्बन्ध में काफी जानकरी हासिल कर लेते थे। फिर एक अन्य सज्जन भी प्रतिदिन आते थे, जो सरकार के कृषि विभाग से सम्बद्ध थे। महाराज उनके साथ फल-फूलों आदि की विविध किस्मों तथा उनमें प्रयुक्त होने वाले उर्वरकों आदि के बारे में चर्चा किया करते थे। महाराज इस प्रसंग में अपने कुछ अनुभव भी बताया करते थे। यद्यपि महाराज स्वयं एक गायक न थे, तथापि वे संगीत के एक उच्च कोटि के पारखी थे। वे संगीत में सुर-लय आदि समझते थे तथा उसका रसास्वादन भी किया करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अनेक विषयों का अच्छा ज्ञान अर्जित कर लिया था, परन्तु किताबें पढ़कर नहीं, वरन् लोगों के साथ वार्तालाप के माध्यम से।

श्रीरामकृष्ण की सेवा-पूजा के बारे में महाराज की तीक्ष्ण दृष्टि थी। एक दिन उन्होंने देखा कि एक ब्रह्मचारी पूजा के लिए उद्यान के सारे अच्छे फूल तोड़ ले रहे हैं। महाराज बोले, "यह तुम क्या कर रहे हो? क्या पौधों को बिल्कुल पुष्पहीन कर डालोगे? तुम समझते हो कि श्रीरामकृष्ण सिर्फ उस कमरे में ही बैठे रहते है, कभी उद्यान में घूमने नहीं

आते। भविष्य में कदापि ऐसा न करना। पूजा के लिए थोड़े-से फूल चुन लेना और बाकी उद्यान में ही छोड़ देना।''

महाराज मठ के विविध विभागों – विशेषकर पुष्पोद्यान और फलोद्यान, शाकोद्यान तथा गोशाला की तरफ विशेष ध्यान रखते थे। गाय-बछड़ों के चारे के बारे में वे स्वयं ही निर्देश देते थे। इतना ही नहीं वे सभी से इसी प्रकार रुचि लेने की अपेक्षा रखते थे। जब कोई मद्रास से बेलूड़ मठ आता, तो वे उससे वहाँ के पुष्पोद्यान, फलोद्यान तथा गायों के बारे में सविस्तार पूछा करते थे। वे पूछते, ''मैंने ठाकुरजी के लिये जो गाय ले दी थी, उसने कितने बछड़े दिये? उसका दूध कैसा है? मैंने जो पौधा लगाया था, उसमें क्या फूल आने लगे हैं? उन्होंने वाराणासी से बिल्व-वृक्ष का एक पौधा लेकर मद्रास मठ में लगाया था। वे पूछा करते कि वह पौधा अब कितना बड़ा हो गया है? उन्होंने वहाँ चार आँवले पेड़ भी लगाये थे। वे सबसे उन पौधों की बाढ़ के बारे में पूछा करते और यह भी कि उनमें अच्छी संख्या में फल आये हैं या नहीं। जब आँवले के ये पौधे बगीचे की चहारदीवारी के पास लगाये जा रहे थे, तो वे वहीं खड़े थे और बोले, ''इन वृक्षों के आँवले बेचकर ही तो तुम्हें सौ रुपये मिल जाया करेंगे।'' सुनकर सभी हँस पड़े थे। जो कोई उन्हें ठीक-ठीक सूचना नहीं दे पाता, उसे वे निकम्मा समझते।

महाराज की देश के एक प्रान्त की चीजों को अन्य प्रान्तों से आदान-प्रदान करने में भी रुचि थी। वे बैंगलोर तथा अन्य स्थानों से पौधे लाकर ठाकुर-सेवा के लिये बेलूड़ मठ में लगाया करते थे। इस प्रकार उन्होंने दक्षिण भारत से एक नागलिंगम का पौधा लाकर वहाँ लगाया था, जो अब एक विशाल वृक्ष में परिणत हो गया है और काफी मात्रा में सुगन्धित पुष्पों से भर जाता है। इस प्रकार वे दूसरे स्थानों की अच्छी चीजें वहाँ लाया करते और बंगाल की अच्छी चीजें अन्य स्थानों में ले जाते। यहाँ तक कि दक्षिण भारत के जो व्यंजन उन्हें पसन्द आते, उन्हें बेलूड़ मठ में भी बनवाकर ठाकुरजी का भोग लगवाया करते थे। विशेषकर नीम के फूलों से बनी रसम् उन्हें बड़ी पसन्द थी।

दक्षिण भारत में 'रामनाम-संकीर्तन' का खूब प्रचलन था। उसे उन्होंने बेलूड़ मठ में शुरू कराया। उसके साथ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित कुछ श्लोकों को जोड़कर उन्होंने उसे हर एकादशी व रामनवमी के दिन मठ में गाने को कहा। अब इसे न केवल बेलूड़ मठ, अपितु रामकृष्ण संघ के सभी आश्रमों में गाया जाता है। इस प्रकार वे उत्तर भारत या दक्षिण में जहाँ कहीं भी जाते, उनके भावों का परस्पर विनिमय कराकर उत्तर-दक्षिण में निकटता लाने का प्रयास करते। एक बार उन्होंने हरिद्वार में तथा एक बार मद्रास में दुर्गापूजा कराई थी। इस प्रकार वे विभिन्न स्थानों की सर्वोत्तम चीजें संग्रह कर सारे देश में फैला देना चाहते थे।

अब मैं आप लोगों से उनके व्यक्तित्व के विषय में दो-चार बातें कहूँगा। एक बार जब महाराज मद्रास में थे, तो स्वामी विशुद्धानन्द भी उन दिनों वहाँ स्वामी रामकृष्णानन्द[१] के सहकारी के रूप में कार्यरत थे। एक दिन राजा महाराज ने देखा कि रामकृष्णानन्द जी खर्च करने के लिये खजांची विशुद्धानन्द जी से कुछ धन ले रहे हैं। महाराज ने उनसे कहा, ''शशि महाराज से रसीद ले लिया करना। रसीद लिये बिना उन्हें पैसे न देना।''अत: जब शशि महाराज अगली बार धन माँगने को गये, तो विशुद्धानन्द जी ने कहा, ''राजा महाराज ने मुझे आपसे रसीद लेने को कहा है।''

शशि महाराज बोले,''ओह! ठीक है, देता हूँ।''

वहाँ पर राजा महाराज की उपस्थिति के कारण शशि महाराज काफी धन व्यय कर रहे थे। उन्हें स्वयं भी इसका अनुमान न था कि वे कितना खर्च कर चुके हैं। महाराज के मद्रास से विदा होते ही उन्होंने विशुद्धानन्द जी से पूछा, ''तुमने मुझे कितनी रकम दी है?''

विशुद्धानन्द जी ने उत्तर दिया, ''यही कोई दो हजार रुपये दिये होंगे।'' शशि महाराज बोले, ''क्या कहा? तुमने मुझे दो हजार दिये हैं? इतना कदापि नहीं हो सकता।''

विशुद्धानन्द जी ने सारी रसीदें निकालकर उनके समक्ष रख दीं। शशी महाराज हँसते हुए बोले, ''तो फिर राजा महाराज ने तुम्हें बचा लिया। उन्होंने ही मुझसे रसीदें लेकर रखने को कहा था, नहीं तो आज तुम मुश्किल में पड़ जाते। देखो, राजा महाराज ने किस प्रकार तुम्हारी रक्षा कर दीं।''

उन्हीं दिनों अंग्रेजी में Inspired Talks[२] नामक पुस्तक का नया-नया प्रकाशन हुआ था। उसे समीक्षा के लिये (संवादपत्रों में) भेजना था। राजा महाराज ने शशि महाराज को उसकी एक प्रति 'बाम्बे क्रानिकल' को भी भेजने को कहा। शशि महाराज बोले, '' बाम्बे क्रानिकल में भेजने से क्या लाभ! उसे 'हिन्दू' में भेज देंगे, यही पर्याप्त होगा।'' और वास्तव में उन्होंने वह पुस्तक 'बाम्बे क्रानिकल' को नहीं भेजी। महाराज को यह बात अच्छी नहीं लगी, पर वे

मौन रहे। इसके बाद से शशि महाराज ने देखा कि उनके महाराज के पास जाने पर वे उनकी ओर ज्यादा ध्यान नहीं देते, उन्हें बुलाते नहीं और उनके प्रणाम करने पर भी कुछ नहीं बोलते। वे आश्रम में शशि महाराज की उपस्थिति से उदासीन थे। शशि महाराज को इसका कारण समझते देर न लगी। उनके बीच प्रेम-सम्बन्ध काफी गहरा था। एक दिन शशि महाराज उनसे बोले, ''ठीक है राजा, मैंने सोचा था कि तुम बड़े महान् और सत्पुरुष हो, परन्तु अब समझ में आया कि तुम्हारा दिल बहुत छोटा है। मैं क्या तुम्हारी बराबरी का हूँ, जो तुम मुझसे लड़ोगे और नाराजगी प्रकट करोगे? तुम्हें मुझसे नहीं, बल्कि अपनी बराबरी के लोगों से ही झगड़ना चाहिये। तुम अपनी इच्छा मात्र से ही तो, न जाने कितने शशि तैयार कर सकते हो।'' महाराज बोले, ''नहीं नहीं, शशि, तुम चिन्ता मत करो! कहाँ, कुछ भी तो नहीं हुआ है!''

एक बार जब शशि महाराज बेलूड़ मठ आये, तब राजा महाराज ध्यान कर रहे थे। उन दिनों मद्रास मेल (प्रात:) करीब १० बजे हावड़ा पहुँचा करती थी। शशि महाराज को मठ पहुँचते लगभग ११ बजे चुके थे, पर राजा महाराज तब भी ध्यानमग्न थे। महाराज ने अन्दर जाकर उन्हें झकझोरते हुए कहा, ''तुम्हें इतना ध्यान करने की जरूरत नहीं है'' और आसन से उठा दिया। सिर्फ शशि महाराज के लिये ही ऐसा कर पाना सम्भव था, अन्य कोई ऐसा नहीं कर सकता था।

भोर में चार बजे मंगल-आरती के बाद प्रतिदिन राजा महाराज ध्यान में बैठा करते थे। वे मठ के दुमंजले पर गंगा की ओर के बरामदे में बैठते और बाकी लोग भी उनके सामने बैठकर ध्यान करते। ध्यान के बाद लगभग सात बजे तक बातचीत चलती रहती। बाबूराम महाराज[3] देखते कि अभी तक सब्जी आदि काटने कोई नहीं आया, सभी ऊपर बैठे हैं। वे नीचे से आकर महाराज से पूछते, ''अच्छा राजा, आज ठाकुर को भोग आदि नहीं दिया जायेगा क्या?'' महाराज कहते, ''अरे, जाओ-जाओ, बाबूराम नाराज हो रहा है।'' **(क्रमश:)**

१. स्वामी रामकृष्णानन्द श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्यों में एक थे और शशि महाराज के नाम से भी सुपरिचित थे। स्वामी विवेकानन्द के आदेश पर उन्होंने मद्रास जाकर वहाँ रामकृष्ण मठ की एक शाखा-केन्द्र की स्थापना की थी और उसके अध्यक्ष हुए। २. अमेरिका के सहस्त्रद्वीपोद्यान में स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रदत्त उपदेशों का संकलन, जिसका हिन्दी अनुवाद 'देववाणी' नाम से रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित हुआ है। ३. श्रीरामकृष्ण देव के शिष्यों में अन्यतम स्वामी प्रेमानन्द।

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

७२. 'तुम्हें ब्रह्म की प्राप्ति हो चुकी है'

भारतवर्ष में व्यास नाम के एक महापुरुष हो चुके हैं। वे एक महान् ऋषि थे और वेदान्त-सूत्रों के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध थे। इनके पिता ने पूर्णत्व प्राप्त करने का प्रयास किया था, परन्तु असफल रहे। इसी प्रकार उनके पितामह तथा प्रपितामह ने भी पूर्णत्व-प्राप्ति के लिए बहुत चेष्टा की थी, परन्तु वे भी सफल नहीं हो सके थे।

स्वयं व्यासदेव भी पूर्ण होने में सफल नहीं हो सके; परन्तु उनके पुत्र शुकदेव जन्म से ही सिद्ध थे। व्यासदेव अपने पुत्र को तत्त्वज्ञान की शिक्षा देने लगे। स्वयं यथाशक्ति शिक्षा देने के बाद उन्होंने शुकदेव को राजा जनक की राजसभा में भेज दिया। जनक एक बहुत बड़े राजा थे और 'विदेह' नाम से प्रसिद्ध थे। 'विदेह' का अर्थ है – देहबोध से रहित'। राजा होने के बावजूद उन्हें इस बात का तनिक भी भान न था कि वे शरीर हैं। उन्हें सदा यही बोध बना रहता था कि वे आत्मा हैं। बालक शुक उनके पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजे गये।

राजा को पहले से ही ज्ञात था कि व्यास मुनि के पुत्र उनके पास तत्त्वज्ञान की शिक्षा पाने के लिये आ रहे हैं, अत: उन्होंने पहले से ही कुछ व्यवस्था कर रखी थी। जब बालक राजमहल के द्वार पर पहुँचा, तो सन्तरियों ने उसकी ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने उसे बैठने के लिए एक आसन मात्र दे दिया। बालक उसी आसन पर लगातार तीन दिन और तीन रात बैठा रहा। कोई भी उससे कुछ बोला नहीं और न किसी ने यही पूछा कि वह कौन है और कहाँ से आया है। शुकदेव एक अत्यन्त महान् ऋषि के पुत्र थे, देश भर में उनके पिता का सम्मान था और वे स्वयं भी बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, परन्तु राजमहल के उन असभ्य चौकीदारों ने उन पर जरा भी ध्यान नहीं दिया।

इसके बाद अचानक ही राजा के सभी मंत्री तथा बड़े अधिकारी वहाँ आये और उनका बड़े सम्मान के साथ स्वागत-सत्कार किया। वे उन्हें अन्दर ले गये और सबसे सुन्दर भवन में स्थान दिया, अत्यन्त सुगन्धित जल से स्नान कराया, सुन्दर वस्त्र पहनाये और आठ दिनों तक उन्हें हर तरह की विलासिता में रखा। परन्तु इन व्यवहारों से शुकदेव के प्रशान्त चेहरे पर जरा भी परिवर्तन नहीं आया। बालक शुक इस विलासितापूर्ण परिवेश में भी वैसे ही रहे, जैसे कि इसके पूर्व महल के द्वार पर प्रतीक्षा में बैठे हुए थे।

इसके बाद उन्हें राजा के सम्मुख लाया गया। राजा सिंहासन पर बैठे हुए थे और वहाँ नाच-गान तथा अन्य आमोद-प्रमोद चल रहे थे। राजा ने उनके हाथ में दूध से लबालब भरी हुई एक कटोरी दी और कहा, ''इसे लेकर इस दरबार की सात बार प्रदक्षिणा कर आओ, परन्तु देखना, एक बूँद भी दूध गिरने न पाये।'' बालक शुक ने दूध की कटोरी ले ली और संगीत की ध्वनि तथा अनेक सुन्दरियों के बीच से होकर प्रदक्षिणा करने चल पड़े। राजा की इच्छानुसार वे सात बार चक्कर लगा आये, परन्तु दूध की एक बूँद भी न गिरी। उस बालक का अपने मन पर ऐसा नियंत्रण था कि बिना उनकी इच्छा के संसार की कोई भी वस्तु उन्हें आकृष्ट नहीं कर सकती थी।

सात फेरे लगाने के बाद जब वे दूध की कटोरी लेकर राजा के सम्मुख उपस्थित हुए, तो उन्होंने उनसे कहा, ''वत्स, तुम्हारे पिता ने तुम्हें जो कुछ सिखाया है और जो कुछ तुमने स्वयं सीखा है, मैं उसकी पुनरावृत्ति मात्र कर सकता हूँ। तुमने 'सत्य' को जान लिया है, अपने घर वापस जाओ।'' (वि.सा. ३/६५-६६)

७३. चलो, थोड़ा धर्म कर लें

मैंने कहीं एक मजेदार पुस्तक पढ़ी थी। उसमें लिखा था कि एक अमेरिकी जलपोत समुद्र में डूबने लगा। उसमें सवार यात्री बड़े घबराये हुए थे और अन्त में दिलासा पाने के लिये उन्होंने सलाह की कि कुछ धार्मिक कृत्य किया जाना चाहिये। प्रेसबिटेरियन चर्च के वरिष्ठ पादरी ''अंकल जोश'' भी उन यात्रियों में से एक थे। सभी लोग मिलकर उनसे अनुरोध करने लगे, ''अंकल जोश, कुछ धार्मिक अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि हम सभी लोग अब मरने ही वाले हैं।''

अंकल जोश ने ने अपने सिर का हैट उतारकर अपने हाथ में ले लिया और तत्काल दान एकत्र करने लगे। (CW, 8:342)

आध्यात्मिक जिज्ञासा (५)

स्वामी भूतेशानन्द

(ईश्वरप्राप्ति के लिये साधक साधना करते हैं, किन्तु ऐसी बहुत सी बातें हैं, जो साधक की साधना में बाधा बनकर उपस्थित होती हैं। साधक के मन में बहुत से संशयों का उद्भव होता है और वे संशय उसे लक्ष्य पथ में भ्रान्ति उत्पन्न कर अभीष्ट पथ में अग्रसर होने से रोकते हैं। इन सबका सटीक और सरल समाधान रामकृष्ण संघ के द्वादश संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने दिया है। इसका संकलन स्वामी ऋतानन्द जी ने किया है, जिसे हम 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

सावधान रहने का प्रयास करना चाहिए। प्रयास करते-करते क्रमश: अभ्यास हो जाता है, संस्कार बन जाता है।

— क्या नींद आने पर चलते हुए जप करने से होगा?

महाराज – वैसा कर सकते हो, किन्तु होता यह है कि उससे न तो नींद को हटा सके, और ध्यान तो हुआ ही नहीं। ध्यान का अर्थ है कि सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों से विरत रहेंगी। मन केवल ध्येय वस्तु में लगा रहेगा। चलने से तो ध्यान हुआ ही नहीं।

– महाराज, ध्यान-जप करते समय आसन पर बैठते ही जप करना प्रारम्भ कर देना चाहिए या कुछ देर बार प्रारम्भ करना चाहिए?

महाराज – इस सम्बन्ध में हमारे फणी महाराज (स्वामी आत्मारामानन्द जी) हँसी-मजाक करते हुए कहते थे – एक व्यक्ति ने आसन लाकर जमीन पर फेंका। उसके बाद छपाक से बैठ गया। माला खींचकर बाहर निकाली और बाहर निकालते ही मानो (नाव का) लंगर खींचने लगा। (सभी हँसते हैं।) ऐसा जप नहीं करना। स्वामीजी ने कहा है आसन पर बैठकर कुछ देर मौन रहना चाहिए। मन की क्रियाओं का निरीक्षण करना चाहिए। ऐसा करने से मन कहाँ जा रहा है, क्या कर रहा है इत्यादि निरीक्षण करते-करते अशान्त मन शान्त हो जाता है। उसके बाद जप-ध्यान करना चाहिए। लेकिन उसके लिए जितना समय देना चाहिए, उतना समय कहाँ है? व्यस्त रहने से क्या ऐसा सम्भव है? हो सकता है कि जल्दी से उठकर सब्जी काटने जाना होगा, प्रशिक्षण की पढ़ाई करनी होगी।

— महाराज, व्यस्तता रहने पर क्या करूँगा?

महाराज – क्या करोगे, ऐसे ही लंगर खींचोगे। (सभी हँसते हैं) असली बात है जितनी देर ही करो, भाव के साथ करने का प्रयास करो। भाव ही असली बात है । जितनी देर करो, एक भाव से करने पर उससे मंगल होगा। मन शान्त नहीं होने से अपना परीक्षण नहीं हो पाता, मन का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। कठोपनिषद में कहा गया है –

अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।। (२/३/१७)

अर्थात् मूँज से सींक को यदि अलग करना हो, तो अचानक खींचने से टूट जायेगा। बहुत धीरे-धीरे मूँज से सींक को अलग करना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार बहुत धैर्य से आत्मा को अनात्मा देहादि से अलग करना पड़ता है। इस श्लोक में आत्मा को शरीर से पृथक् करने की बात कही गयी है। उसी प्रकार ध्यान के समय मन को जिसमें लगाना चाहते हैं, उसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं से मन को हटाकर इष्ट में लगाना होगा। गीता में है –

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृति गृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदामन्येव वशं नयेत्।।(६/२५-२६)

बहुत धीरे-धीरे, 'शनैः शनैः' कहा गया है। क्योंकि हम समाधि का अभ्यास कर रहे हैं। हम जिस अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिये मन को तो शान्त करना होगा। ध्यान करने के लिए मन को शान्त करना होगा। मन के शान्त होने पर जीवन में उसकी छाप पड़ेगी, चाल-चलन, व्यवहार सब शान्त होगा।

जीवन में शान्त भाव उदित होगा, चरित्र में मृदुता आयेगी। हड़बड़ करने से नहीं होगा। जो लोग कीर्तन करते हैं, खोल-करताल (ढोलक खंजनी) लेकर बहुत नाचते-कूदते हैं। ध्यानी को यह अवस्था अच्छी नहीं लगती। ठाकुर के जीवन में दोनों ही देखा जाता है। जब वे नृत्य कर रहे हैं, तब कितना सुन्दर उनका नृत्य है। जो लोग साथ में गा रहे हैं या नाच रहे हैं, केवल वे ही नहीं, जो लोग सुन या देख रहे हैं, उन्हें भी पसीना आ रहा है। कभी ठाकुर कहते हैं – अभी शोरगुल अच्छा नहीं लगता। यानि शान्त भाव में हैं। वे सभी भावों की पराकाष्ठा, श्रेष्ठता दिखायेंगे तो, इसलिए उन्होंने दोनों भावों को ही दिखाया है।

प्रश्न – क्या निद्रा को ही योग में लय कहते हैं?

महाराज – हाँ, योग के विघ्नों में एक 'लय' है। माण्डुक्यकारिका में वर्णन है –

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं समयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयात् सम्प्राप्तं न चालयेत्।। (३/४४)

लय का वास्तविक अर्थ है, ध्यान करते-करते अचानक उसके मन के सामने से ध्येय वस्तु हट जाती है, मन जगा रहता है, किन्तु ध्येय वस्तु नहीं रहती। तब साधक को पुन: सम्बुद्ध, सजग मन के समक्ष ध्येय वस्तु को लाने का प्रयास करना पड़ता है। हमलोगों जैसे साधारण लोगों की दृष्टि में लय का अर्थ निद्रा है। मन सो जाता है। उसे जगाये रखने की चेष्टा करनी पड़ती है। इसके बाद है विक्षेप। यह सबको होता है। इसे सभी जानते हैं। ध्येय विषय को छोड़कर मन दूसरे विषय का चिन्तन करता है। तब पुन: मन को ध्येय वस्तु में लगाने का प्रयत्न करना पड़ता है। 'कषाय' का अर्थ है रंजित होना। मन भोग-वासना या विषय-वासना से रंजित होने पर उसी विषय की ओर आकर्षित होता है। जब मन विषय के प्रति आकर्षित होता है, तब मन उसके प्रति सजग रहे। कहते हैं – 'सकषायं विजानीयात्'। एक दूसरा विघ्न है, जिसे रसास्वादन कहते हैं। साधक थोड़ा-सा आगे बढ़े कर साधना के बिन्दुमात्र आनन्द को प्राप्त कर वहीं पर आनन्द का आस्वादन करने लगते हैं। किन्तु मन को संयमित कर बताना होगा कि हमारा लक्ष्य अभी बहुत दूर है। जैसे ठाकुर का लकड़हारे का और दूर जाने की कहानी है। समता प्राप्त होने पर मन और अधिक विचलित नहीं होगा। अर्थात् जिस उन्नत अवस्था में मन स्थित है, उसे वहीं स्थिर रखने का प्रयत्न करना होगा। लेकिन हमलोगों को निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमलोग जितनी चेष्टा क्यों न करें, वह कितनी भी कम क्यों न हो, वह व्यर्थ नहीं जायेगी। वह जमा रहती है। यदि हम आदर्श की ओर एक छोटा-सा कदम भी आगे बढ़ाते हैं, तो उतनी दूरी तो कम हो गयी । उतना तो जमा हो गया। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि मन में तीव्र व्याकुलता नहीं आने तक हमलोग जो कुछ भी क्यों न करें, कोई कुछ भी नहीं है। तो क्या प्रयत्न करना छोड़ देना पड़ेगा? नहीं, जब तक ऐसी व्याकुलता नहीं आती, तब तक चेष्टा करते जाना होगा। हमारी थोड़ी-सी भी चेष्टा व्यर्थ नहीं जाती, व्यर्थ नहीं जायेगी। जमा रहेगी। भविष्य में जब जीवन में सुख-दुख आयेगा, तब वही छोटी-सी चेष्टा हमें बचा देगी। जितनी छोटी चेष्टा क्यों न हो कोई भी सत्-चेष्टा नहीं भूलनी चाहिये, उसे स्मरण करने पर भी संकट के समय मन में शक्ति आती है। नवानुराग वैराग्य, पुरुषार्थ इत्यादि का भविष्य जीवन में स्मरण करना चाहिये। तब मन में होता है अहा ! कैसी मन की अवस्था थी ! कितना आकर्षण, कितना वैराग्य था ! **(क्रमशः)**

अद्भुत गुरु की अद्भुत दीक्षा

स्वामी रंगनाथानन्दजी रामकृष्ण संघ के बारहवें संघाध्यक्ष थे । एकबार अमेरिका से एक भक्त उनसे मन्त्र-दीक्षा ग्रहण करने के लिए आए । किन्तु महाराज उस समय अस्पताल में भर्ती थे । इसलिए दीक्षा की कोई सम्भावना नहीं थी । अमेरिका लौटने के पहले वे भक्त महाराज को प्रणाम करने अस्पताल में आए । पूज्य महाराज के सचिव महाराज ने उन्हें इस बारे में बताया । पूज्य महाराज ने उनसे कहा कि वे भक्त को यहीं अस्पताल में ही दीक्षा देंगे । बिस्तर पर लेटे-लेटे महाराज ने अमेरिका से आए उन भक्त को मन्त्र-दीक्षा दी । दीक्षा के बाद उन्होंने अपने निजी सचिव से भक्त को प्रसाद देने के लिए कहा । उस समय वहाँ प्रसाद देने के लिए कुछ नहीं था । केवल एक इलेक्ट्रोल का पैकेट था । कुछ न देखकर महाराज ने उन्हें इलेक्ट्रोल का पैकेट ही प्रसाद के रूप में दिया और उन्हें रोज थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करने के लिए कहा । अपनी बात की पुष्टि करने के लिए महाराज ने श्रीमाँ सारदा देवी का उदाहरण दिया कि परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति को अपने में सांमजस्य लाना चाहिए ।

साधना की अद्भुत प्रणाली – केनोपनिषद (१७)

स्वामी आत्मानन्द

(स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव थे। उनके द्वारा कलकत्ता में प्रदत्त इस प्रेरक व्याख्यान को स्वामी प्रपत्त्यानन्द द्वारा सम्पादित कर विवेक ज्योति के पाठकों हेतु प्रकाशित किया जा रहा है।)

गुरुजी ने कहा कि

अब हम तुम्हें अध्यात्म की दृष्टि से उपदेश देते हैं –

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सकल्पः ।।४/५

यह मन जो जाता हुआ-सा दिखाई देता है, वह ब्रह्म है, ऐसी उपासना करनी चाहिये, क्योंकि इससे ही ब्रह्म का स्मरण होता है और निरन्तर संकल्प किया जाता है।

मेरा मन कभी वृन्दावन, कालिन्दी तट, वंशीवट और कभी गोकुल में चला गया। यह जो मन जाता हुआ-सा दिखाई देता है और बारम्बार संकल्प करता हुआ-सा दिखाई देता है। क्या संकल्प करता है? प्रभु ने यहाँ पर यह लीला की थी, कालिन्दी तट पर उनकी यह लीला हुई थी, यह अध्यात्म है। यह अध्यात्म का उपदेश है।

गुरुजी ने एक ज्ञानात्मक साधना बताई थी, प्रकाश पर का ध्यान करते हैं। मन चंचल है। क्षण में बिजली का प्रकाश आया और पलक मारते प्रकाश चला गया। किन्तु लगातार अभ्यास से प्रकाश में स्थित होने का भाव अधिक होने लगता है। पलक मारकर गायब होने का भाव कम होने लगता है। एक ऐसा समय आता है, जब वह प्रकाश में ही स्थित हो जाता है। वह इन्द्र की स्थिति हो गयी, वह जीवात्मा की स्थिति हो गयी। मानों वहाँ जाकर भगवती ने कृपा कर दी। ब्रह्मविद्या की कृपा से वह साधक अपने भीतर आत्मज्योति में डूब जाता है, वही तुरीय अवस्था है, वही समाधि की अवस्था है । अध्यात्म के उपदेश के द्वारा जो इस प्रकार की सिद्धि को प्राप्त करता है, वह महापुरुष हो जाता है। महापुरुष के प्रति हमारा आकर्षण क्यों होता है? हम किसी को गुरु क्यों बनाते हैं? हम किसी को संत क्यों कहते हैं? इसलिए कहते हैं कि संत के पास जाने से हम यह देखते हैं कि हमारे जीवन में जो कमियाँ हैं, दुर्बलताएँ हैं, वे संत में नहीं हैं। हमें बड़ा विलक्षण लगता है, जब संत के पास जाकर कहते हैं – महाराज ! अमुक आदमी आपकी बड़ी आलोचना कर रहा था। संत हँसकर कहते हैं, प्रभु उसका कल्याण करें ! बड़ी विचित्र बात है ! मेरे पास आकर के कोई व्यक्ति कह दे कि वह व्यक्ति आपको गाली दे रहा था, तो मैं उसको तुरन्त गाली देने लगूँगा, कहूँगा कि मैं देख लूँगा उसको। पर संत कैसा है? संत के पास कोई अभिशाप नहीं है। संत के पास केवल आशीर्वाद ही है, वह सबके लिए आशीर्वाद स्वरूप है, तो वह संत हमें कितना आकर्षित करता है। ऐसा संत जो समदृष्टि रखता है, सबका कल्याण चाहता है, जिस महापुरुष को हम अपनी आँखों से देखते हैं, वह हमें कितना आकर्षित करता है !

यह जो तत्त्व है, वह संत के माध्यम से भी प्रगट हो रहा है, मानो एक महापुरुष के माध्यम से उस तत्त्व की उपासना है। वह तत्त्व कितना अद्भुत होगा !

एक महापुरुष का आश्रय लेकर साधना करने का उपदेश है। महापुरुष माननीय होते हैं, वे हमें अत्यन्त आकर्षित करते हैं। कैसे करते हैं? अपने गुणों के द्वारा करते हैं। क्यों करते हैं? क्योंकि उनके जीवन में वह तत्त्व प्रकाशित है, जिसके बारे में हम पढ़ते हैं। हम कहते हैं भगवान बहुत दयालु हैं। पर बहुत दयालु का क्या अर्थ है? इस गुण को जब हम किसी सन्त के जीवन में देखते हैं, तब हम समझ पाते हैं। जैसे एक सन्त नदी में स्नान करने के लिये उतरे। उन्होंने देखा कि एक जीवित बिच्छू नदी के प्रवाह में बहा जा रहा है। उन्हें बहुत करुणा आती है। वे अंजलि में पानी सहित बिच्छू को बाहर फेंकते हैं, ताकि बिच्छू के प्राण बच जायें। बिच्छु उन्हें डंक मारता है। अंजलि खुल जाती है और बिच्छू फिर से बहने लगता है। उन्होंने दुबारा चेष्टा की, फिर बिच्छू ने डंक मारा, तीसरी बार चेष्टा की, फिर से बिच्छू डंक मारता है। तीर पर खड़ा एक व्यक्ति कहता

है – महात्माजी ! अरे उसे बहने दीजिए, मरने दीजिए, आप तो बारम्बार उसको बचाना चाहते हैं और वह बारम्बार आपको डंक मारता है। संत ने क्या कहा? सन्त बोलते हैं – जब वह नादान प्राणी अपने डंक मारने के स्वभाव को नहीं छोड़ पा रहा है, तो मैं विवेकी पुरुष होकर उसको बचाने का स्वभाव कैसे छोड़ सकता हूँ? यह सन्तत्व है। भगवान बहुत करुणामय हैं, यह बात सत्पुरुष के माध्यम से समझ में आती है। इसीलिए यहाँ महापुरुष का आश्रय लेकर साधना करने की बात कही गयी। शिष्य ने यह सब सुना। अब आगे कहते हैं –

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति।। ४/६।।

वह ब्रह्म ही वन है। उसकी 'वन' नाम से उपासना करनी चाहिये। जो ऐसा जानता है, उसे सभी प्राणी चाहते हैं।

ब्रह्म का एक नाम है वन। वन माने वननीय, भजनीय। संस्कृत में वन का एक तात्पर्य यहाँ वननीय किया गया, जिनका हम भजन करें, जो चाहने योग्य है, जिसके गुणों के कारण हम बलात् आकर्षित हो जाते हैं, उसको वन कहते हैं। वन इस ब्रह्म का नाम है। यह वन है, यह भजनीय है, चिन्तनीय है, यह उपासनीय है। ब्रह्म की वन नाम से उपासना का क्या अर्थ है? अर्थात् वे ही भजनीय हैं, वे ही आकर्षण करनेवाले तत्त्व हैं, जो इस प्रकार से उस ब्रह्मतत्त्व को जानते हैं।

यह आकर्षण करनेवाला तत्त्व क्या है? यह आत्मतत्त्व है। जो सबके भीतर प्रत्यगात्मा के रूप से विराजित है, सबको यही शक्ति देते हैं। जैसे मुझे शक्ति देते हैं, वैसे ही सबके भीतर में स्थित होकर सबको शक्ति देते हैं। जैसे मेरी आँखों को देखने की शक्ति देते हैं, वैसे दूसरे व्यक्ति को भी, सभी प्राणियों की आँखों को भी देखने की शक्ति देते हैं, जिससे सारा जगत शक्तिमान है। ऐसा जो चराचर जगत में ओत-प्रोत चैतन्य विद्यमान है, यही हमारा उपास्य है। जब हमारी उस तत्त्व में ऐसी वृत्ति होती है, तब वह तत्त्व हमारे लिये वननीय हो जाता है, भजनीय हो जाता है।

यह सुनकर शिष्य ने कहा –

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रुमेति।। ४/७।।

हे गुरुजी ! अब आप मुझे उपनिषद का उपदेश दीजये। गुरुजी ने कहा, वत्स ! अभी तक मैं तुम्हें उपनिषद का ही तो उपदेश दे रहा था। ठीक है, यदि तू माँगता है, तो मैं तुम्हें ब्राह्मी उपनिषद का उपदेश दूँगा – ब्राह्मी उपनिषदम् अब्रुम।

यहाँ फिर से ब्राह्मी उपनिषद का उपदेश प्रदान करने की बात समझ में नहीं आती। जब एक बार उपनिषद बता दिया, तो फिर क्यों उपदेश माँग रहा है? इसे इस प्रकार समझ सकते हैं। शिष्य गुरुजी के उपदेश से बहुत प्रभावित हुआ। उसे लगा, यदि मैं पुनः पूछुँ, तो गुरुजी शायद कुछ नयी बात बता दें। ऐसा होता है न ! संत उपदेश देते हैं, हम बात को समझ लेते हैं, पर जो बुद्धिमान शिष्य होता है, जिज्ञासु होता है, तो कहता है कि आप एकबार फिर से उपदेश दे देते, तो बहुत अच्छा होता। सन्त कहते हैं, क्यों ! तुम्हें तो बात मैंने बता दी। शिष्य कहता है, आपने बता दी, पर एक बार और कृपा करके समझा दीजिए। तब सन्त भिन्न ढंग से समझाते हैं। वैसे ही यहाँ गुरुजी भिन्न ढंग से समझाते हैं, एक नयी बात कह देते हैं, जो शिष्य को प्रेरणा देती है। शिष्य प्रश्न पूछकर गुरु की कृपा को और अपनी ओर लाने की चेष्टा करता है, इसलिए यह प्रश्न है। कहते हैं –

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।। ४/८।।

– उस ब्राह्मी उपनिषद की तप, दम, कर्म तथा वेद और सम्पूर्ण वेदांग, ये प्रतिष्ठा हैं एवं सत्य आयतन हैं।

गुरुजी ने कहा, तू उपदेश चाहता है, तो तेरे लिये यह उपदेश दे रहा हूँ। तस्यै यहाँ स्त्रीलिंग में है, उसका अर्थ है – ब्रह्मविद्यायै। ब्रह्मविद्या क्या है? कहते हैं ये सब प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा माने इसके आधारभूत स्तम्भ हैं। जैसे कुर्सी की प्रतिष्ठा क्या है? उसके चार पैर हैं। उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के भी चार पैर हैं। ये चार पैर कौन से हैं? तप, दम, कर्म, वेद और वेदांग। चार वेद और और छः वेदांग होते हैं। जो कर्म वेदों में हैं, जो कर्मकाण्ड है, यज्ञ याज्ञादिक है। यज्ञ याज्ञादिक चर्चा आपने गीता में देखी होगी, उसका स्वरूप हमारे लिये अलग हो जाता है।

दमः यानि इन्द्रियों का दमन करना, इन्द्रियों को अपने वश में करने की चेष्टा करना। यदि जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा न हो, तो साधना का कोई मूल्य नहीं है। यदि कोई तपस्वी हो, किन्तु झूठ बोलता हो, कोई कर्मकाण्डी हो,

पर असत्य बोलता हो, कोई शास्त्रों का पंडित हो, किन्तु इन्द्रियों पर नियंत्रण न करता हो, तो उसको कोई फल नहीं मिलेगा। फल उसी को मिलेगा जो सत्य पर अधिष्ठित है। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, कलिकाल में सत्य ही तपस्या है। जो सत्य में अधिष्ठित है, उसको सब कुछ का फल मिल जाता है। वह थोड़ा-सा क्रोधी हो सकता है, उसके जीवन में कुछ और कमियाँ दिखाई देती हैं, पर यदि वह सत्यनिष्ठ है, तो निश्चित ही उसने परम श्रेय को प्राप्त कर लिया है । बारह वर्ष तक यदि कोई तन, मन और वचन से सत्य का पालन करे, तो उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। श्रीरामकृष्ण देव का जीवन इसका उदाहरण है। उनके मन में कोई इच्छा उठने पर उसके अनुरूप ही उनका शरीर चलता था, इसके विपरीत नहीं व्यवहार करता था। ऐसा सत्य उनके जीवन में दिखाई देता है। श्रीरामकृष्ण का जीवन ऐसा अद्भुत था कि शास्त्रों में जो सिद्धान्त बताये गये हैं, वे सारे सिद्धान्त उनके व्यावहारिक जीवन में दिखाई देते हैं। एक मनुष्य का जीवन कैसा हो सकता है, यह श्रीरामकृष्ण देव को देखने से पता चलता है। ऐसा उनका विलक्षण जीवन था !

आगे ग्रन्थ-अध्ययन का फल बताते हैं –

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति।। ४/९

जो निश्चय इस उपनिषद को जानता है, वह पापहीन होकर अनन्त स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।

जहाँ पर शब्द को दुहराया जाता है, मानो वहाँ उपनिषद की समाप्ति मानी जाती है। या तो दो बार वाक्यांश रहेगा या शब्द दो बार रहेगा। गुरुजी शिष्य से कहते हैं कि अभी मैंने तुम्हें जो बताया उस उपनिषद को जो इस प्रकार जान लेता है, इस ब्रह्मविद्या को जो ज्ञात कर लेता है, वह पाप रहित हो जाता है। यहाँ पाप माने द्वैत है। यह ब्रह्मविद्या की दृष्टि से है। जहाँ भी द्वैत है, वह पाप है। शंकराचार्य कितने कठोर हैं। हम जब आनन्दमय कोष में स्थित होते हैं, सविकल्प समाधि में स्थित हैं, जहाँ द्वैत है, भ्रूण हत्या का पाप और द्वैत में रहने का पाप एक समान है। क्योंकि दोनों में द्वैत भाव है। इतने कठोर हैं वेदान्ती। उपनिषद का ज्ञान इस द्वैत रूपी पाप का वध कर देता है। जिस सूक्ष्म अहंकार के पर्दे के कारण दो भास रहा था, वह पर्दा निकल गया। अब केवल एक ही हो गया। इस सूक्ष्म प्रक्रिया को श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं – काँच की अलमारी में किताब है। मैं इस किताब को निकालने के लिये हाथ बढ़ाता हूँ, काँच इतना पारदर्शी है कि दिखता नहीं है। हाथ रुक गया, क्योंकि वहाँ पर काँच का पर्दा है। तब मुझे लगता है कि अरे यह तो काँच का पर्दा है। यह समाधि के पहले की स्थिति जैसी है। जब वह पर्दा निकल गया, तब हम उस किताब के साथ एकरूप हो गये। उसका स्पर्श कर लिया, उससे मिल गये।

यहाँ उपनिषद में वही बात कहते हैं – अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति। स्वर्ग लोक अनन्त नहीं है, स्वर्ग तो पुनरावर्ती है, स्वर्ग का नाश होता है, किन्तु अनन्त विशेषण लगा है। इसका अर्थ है जिस आनन्द में कहीं पर क्षरण नहीं है। जिस ब्रह्मविद्या के आनन्द में, ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने का जो आनन्द है, जिसे गुरुजी प्राप्त कर रहे हैं, शिष्य भी उसी आनन्द को प्राप्त करता है, उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसे जीवन्मुक्ति की अवस्था मिलती है। इस प्रकार गुरुजी शिष्य को समझाते हैं ! बड़े विचित्र सूत्र हैं इसके। आपने देखा कैसा विलक्षण है यह केनोपनिषद !

शिष्य के सभी संशयों का समाधान हो गया। इसके बाद अन्त में गुरु और शिष्य दोनों मिलकर शान्ति पाठ करते हैं – **ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि, सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः !!! हरिः ॐ तत्सत्।**

भगवत्कृपा से चार दिन तक इस केनोपनिषद पर चिन्तन करने का अवसर मिला। आप सभी जानते हैं, इसके पीछे प्रेरणा के रूप में माननीया सौभाग्यवती सरला जी और भाई बसन्त कुमार जी हैं। आप सब लोग यहाँ आकर सुनते हैं, मुझे इस प्रकार उत्साहित करते हैं, इससे लगता है कि इस विद्या में आपकी रुचि है। भगवान के चरणों में यही प्रार्थना है कि आपकी यह रुचि, आपका आत्मावलोकन दिन-दिन बढ़ता रहे और आप भी उस विद्या के भीतर प्रविष्ट होने से समर्थ हों। ब्रह्मविद्या हम सब पर कृपा करें। ब्रह्मशक्ति हम पर कृपालु बनें और हमारे जीवन के अवरोधों को हटा दें, यही मंगल प्रार्थना आप सबके लिए करता हूँ और 'संगीत कला मंदिर ट्रस्ट' को धन्यवाद करता हुआ आप सबसे विदा लेता हूँ। हरि ॐ तत् सत्। **(समाप्त)**

भगिनी निवेदिता : भारत में आगमन

स्वामी तन्निष्ठानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर

स्वामी विवेकानन्द ने निवेदिता को पत्र लिखकर उन्हें भारत पधारने का स्वागत तो किया, किन्तु यहाँ के प्रतिकूल वातावरण से भी सचेत किया। उन्होंने आश्वासन दिया कि वे उन्हें सर्वदा सहयोग करेंगे। निवेदिता भारत आने की तैयारियाँ करने लगीं। अपने स्कूल का दायित्व उन्होंने अपनी बहन मेरी को सौंपा। भारत जाने के कठिन निर्णय को अपनी माँ को बताया। माँ को अपनी पुत्री में हुए परिवर्तन का आभास पहले से ही लग गया था। उनको अपने दिवंगत पति के अन्तिम शब्द याद आये, "भगवान की ओर से मार्गरेट (निवेदिता) के लिए एक आह्वान आएगा, उस समय तुम उसमें बाधक न बनकर उसकी सहायता करना।" निवेदिता के जन्म के पहले भी सकुशल सन्तान के जन्म होने पर उसे ईश्वर के चरणों में समर्पित करने की उन्होंने प्रार्थना की थीं। वे शब्द उन्हें स्मरण थे। इसीलिये निवेदिता को भारत जाने के लिए उन्होंने तुरन्त 'हाँ' कह दिया।

देखते-देखते वह दिन भी आ पहुँचा, जब समुद्र में खड़ा 'मुम्बासा' जहाज निवेदिता को भारत ले जाने के लिए प्रस्तुत था। उनकी माँ, बहन मेरी, भाई रिचमण्ड, उनके मित्र श्री इरिक हेमण्ड आदि उन्हें बिदाई देने गये थे। नियति उन्हें भारत की ओर ले जा रही थी। शीत ऋतु की वह कुहासे से भरी सुहावनी सुबह थी, जब निवेदिता ने विम्बलडन से भारत की ओर प्रस्थान किया। उन क्षणों को याद करते हुए उनके भाई रिचमण्ड लिखते हैं, "मुझे वह दिन आज भी याद है, जिस दिन मार्गरेट ने पहली बार भारत जाने के लिए प्रस्थान किया था। वह ब्रिटिश-भारत लाइन के द्वारा प्रवास कर रही थी। हम सब लोग उसे विदा करने के लिए टीलबरी बन्दरगाह पर गये थे। मेरी बहन और मेरी माँ भी हमारे साथ थी। दो मित्र इबेनजर कुक तथा आक्टोवियस भी साथ थे। जैसे ही जहाज ने प्रस्थान किया, माँ और बहन रोने लगी।" सबने निवेदिता को शुभकामनाओं के साथ भावपूर्ण बिदाई दी।

इंग्लैण्ड का समुद्री तट जैसे-जैसे पीछे छूटता गया, वैसे-वैसे निवेदिता के मन में भी उनके अनिश्चित भविष्य की हलचल होने लगी। वे अपने स्वप्नों के देश की ओर जा रही थीं। ५ जनवरी, १८९८ को जहाज मोम्बासा, ७ जनवरी को सिनाई, १२ जनवरी को एडन बंदरगाह होते हुए २८ जनवरी को सुबह १० बजे मद्रास पहुँचा। जहाज पूरे दिन-रात बन्दरगाह पर खड़ा रहा। गुडविन जहाज पर निवेदिता से मिलने आये। दूसरे दिन सुबह १० बजे जहाज कलकत्ता के लिए रवाना हुआ। जैसे-जैसे वे अपने लक्ष्य की ओर व्याकुलता से बढ़ रही थीं, अधिकाधिक व्याकुल हो रही थीं। वे अपनी डायरी में लिखती हैं –"सहानुभूति तथा सहृदयता के असीमित अथाह सागर के बावजूद मैं बहुत ही अकेलापन अनुभव कर रही हूँ। कलकत्ता मुझे कैसा लगेगा, इस विचार से मैं विचलित हो रही हूँ।"

२८ जनवरी, १८९८ को उनका जहाज कलकत्ता पहुँचा। जहाज के डेक पर खड़े होकर निवेदिता अपनी भावी कर्मभूमि को देख रही थी। इस आयरिश युवती का स्वागत करने के लिए स्वामीजी स्वयं बन्दरगाह पर आये थे। स्वामीजी को देखकर निवेदिता के काँपते हृदय को थोड़ी सान्त्वना मिली। देखनेवाले दंग रह गये कि कौन है यह विदेशी युवती जिसका स्वागत संन्यासी मंडली कर रही है। तब कौन जानता था कि इंग्लैण्ड द्वारा भारतमाता को समर्पित यही युवती भविष्य में स्वामीजी की मानसकन्या के रूप में प्रसिद्ध होगी। निवेदिता का पुष्पहारों से भव्य स्वागत किया गया। स्वामीजी गैरिक वस्त्र में थे। सिर पर उसी रंग की पगड़ी थी। चारों ओर भीड़ थी। निवेदिता केवल स्वामीजी से ही परिचित थीं। स्वामीजी को देख वे बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने स्वामीजी को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। स्वामीजी ने पूछा, "लंदन में हमारे मित्र कैसे हैं? तुम्हारी माँ कैसी हैं? वहाँ स्कूल में तुमने कौन-सा नया कार्य किया?" उसके बाद बग्घी से उन्हें कलकत्ता के चौरंगी गली में स्थित एक घर मे ले जाया गया। उन दिनों चौरंगी में केवल अंग्रेजों की ही बस्ती थी।

कलकत्ता के प्रारम्भिक कुछ दिन निवेदिता ने अपने अँग्रेज मित्र के साथ वहाँ के दर्शनीय स्थलों – ईडन गार्डेन, बोटेनिकल गार्डन्स, संग्रहालय तथा किला देखा। एक रविवार को वह गिरजाघर में गईं। किन्तु उनकी विशेष रुचि हिन्दू घरों को देखने में थी। अत: जब भी उन्हें समय मिलता, वे किराये की मोटरगाड़ी या घोडागाड़ी से शहर के उत्तरी क्षेत्रों की गलियों में भ्रमण करतीं। OOO

बालक विजयकृष्ण

विजयकृष्ण के पिता का नाम आनन्दकिशोर और माता का नाम स्वर्णमयी था। उनका जन्म २ अगस्त, १८४१ को नदिया जिले में उनके ननिहाल में हुआ था और बचपन उसी जिले के शान्तिपुर में बीता।

उनके घर में श्यामसुन्दर की मूर्ति थी। विजयकृष्ण उस मूर्ति की पूजा करते थे। वे बचपन में बहुत नटखट थे। उसकी एक मित्र-मंडली थी। वे देवी-देवताओं से सम्बन्धित नाटक तैयार करते और घर-घर जाकर दिखाते थे।

पुराने दिनों में गाँव में भोजन बनाने के लिए चूल्हे में लकड़ी का प्रयोग होता था। गाँव में कुछ व्यक्ति लकड़ी काटकर लकड़ी बेचने के लिए आते थे। एकदिन एक व्यक्ति विजयकृष्ण के घर लकड़ी बेचने आया। विजयकृष्ण उससे मोल-भाव करने लगे। तब लकड़ीवाले ने कहा, 'तुमसे नहीं होगा, अपनी माँ को बुलाओ।' माँ ने आकर विजयकृष्ण से कहा, 'गरीब व्यक्ति को दो-चार पैसे कम देकर क्या तुम धनवान हो जाओगे? ये जो माँग रहे हैं, दे दो। गरीबों को कुछ अधिक देना चाहिए, नहीं तो उनके परिवार के लोग क्या खाएँगे?'

बालक विजयकृष्ण की गरीबों के प्रति बहुत सहानुभूति थी। वे विभिन्न प्रकारों से उनकी सेवा करने का प्रयत्न करते थे। एकदिन वर्षा के समय उनके गाँव में गंगाजी के नाले में एक बालक फिसल कर गिर गया। बच्चे के चिल्लाने की आवाज सुनकर विजयकृष्ण नाले के तेज प्रवाह में उसे बचाने के लिए कूद पड़े। बहुत प्रयत्न करने के बाद विजयकृष्ण उस मरते हुए बालक को लेकर तैरते हुए बाहर आए। वे स्वयं भी बेहोश हो गए। होश में आने के बाद उन्होंने देखा कि बालक की स्थिति अच्छी है और उसकी माँ भावभीनी आँखों से विजयकृष्ण के हाथ-पैर दबा रही है।

विजयकृष्ण की सत्य के प्रति अद्भुत निष्ठा थी। उन्हें बचपन में घुड़सवारी का बहुत शौक था। अच्छे घोड़े को देखकर वे और उनके मित्र घोड़े को पकड़ लेते और चोरी-छिपे घुड़सवारी का आनन्द लेते। एकबार एक अच्छे घोड़े को देखकर वे और उनके मित्रों ने घुड़सवारी करने के लिए घोड़े को चुरा लिया। घोड़े के मालिक ने सब तरफ घोड़े की खोज करवाई। अंत में विजयकृष्ण की बालक-मंडली से पूछा गया। किसी ने घोड़े के बारे में कुछ नहीं बताया। जब विजयकृष्ण से पूछा गया तो उन्होंने सब सच-सच बता दिया। घोड़े के मालिक ने उनकी सत्य-निष्ठा पर मुग्ध होकर उनको वह घोड़ा भेंट दे दिया।

वे अपने मित्रों से बहुत प्रेम करते थे। उनके एक मित्र के घर की आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब थी। विजयकृष्ण अपने परिवार वालों से छिपाकर अपने इस मित्र को अन्न, वस्त्र इत्यादि देते थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण विजयकृष्ण अपनी बालक-मंडली के नेता जैसे थे।

विजयकृष्ण के शान्तिपुर गाँव में किसी विशेष पर्व-त्योहार पर दूर-दूर से अनेक तीर्थयात्री आते थे। ऐसे ही एक अवसर पर एक गरीब महिला अपने शिशु को साथ लेकर गाँव के लोगों के साथ आई। शान्तिपुर पहुँचने के बाद उसके बेटे को चेचक हो गया। गाँव के बाकी लोग उस महिला और उसके बच्चे को छोड़कर वापस लौट गए। बेचारी महिला असहाय अवस्था में अपने बच्चे के साथ रास्ते के किनारे बैठी थी। अचानक विजयकृष्ण की उस ओर दृष्टि गई। उस महिला से पूरी बात जानकर विजयकृष्ण को दया आ गई और उनका कोमल हृदय रोने लगा। उन्होंने शीघ्र ही पालकी की व्यवस्था की और माँ और बेटे को अपने घर ले आए। कुछ ही दिनों में वह बालक स्वस्थ हो गया। लौटते समय बालक की माँ विजयकृष्ण को बार-बार आशीर्वाद देने लगी। विजयकृष्ण भी उस बालक का हाथ पकड़कर रोने लगा, मानो वह उसका पुराना मित्र हो। ○○○

नारियों का सम्मान करें

प्रिय युवक बन्धु !

भारतीय संस्कृति आदिकाल से ही नारियों के प्रति श्रद्धा का उद्घोष करती चली आ रही है। मार्कण्डेय पुराण के दुर्गासप्तशती में कहा गया है –

या देवि सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

या देवि सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।...

नारी को हमारी संस्कृति में श्रद्धा-भक्ति का प्रतीक माना गया और देवी के रूप में, शक्तिरूप में नारी को सर्वोच्च सम्मान और श्रद्धा प्रदान की गयी। नारी रूप में महाशक्ति की उपासना की गयी।

नारी के बिना जगत अविश्रृंखलित है। बिना प्रकृतिरूपी नटी के पुरुष लौकिक कार्य नहीं कर पाता। वेदान्तानुसार बिना माया के ब्रह्म सृष्टि करने में समर्थ नहीं होता। अर्धनारीश्वर भगवान शिव अर्द्धशक्तिरूप को धारण कर नारी की महिमा का संदेश संसार को देते हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता में मातृपूजा के अवशेष मिलते हैं। भगवान श्रीराम ने श्रीसीताजी और भगवान श्रीकृष्ण ने राधिकाजी को अपनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया। बंगभूमि पर अवतरित युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने अपनी पत्नी श्रीमाँ सारदा देवी की षोडशी पूजा की और वे उन्हें माँ काली की दृष्टि से देखते थे। महर्षि अरविन्द ने श्रीमाँ को भवानी की संज्ञा से सम्मानित किया। जिस देश में 'मातृवत् परदारेषु' का आदर्श माना गया, उसी भारत देश के महान ऋषि श्रीशंकराचार्य जी ने नारियों के मातृभावना के सम्बन्ध में देव्यापराधक्षमापन स्तोत्र में यहाँ तक कहा कि कुपुत्रो जायेत् क्वचिदपि कुमाता न भवति – पुत्र कुपुत्र हो सकता है, लेकिन माता कुमाता नहीं होती, ऐसी आदर्शवाणी का उद्घोष किया है। मैथिलीशरण गुप्त जी ने 'माता न कुमाता पुत्र कुपुत्र भले ही' कहकर नारियों पर विश्वास किया। रामधारी सिंह दिनकर जी ने 'सुमन एक सौन्दर्य और नारियाँ सवाक् सुमन हैं' से नारियों को सम्मानित किया है। किसी ने नारी-महिमामंडन करते हुए लिखा –

नारी सेवा है, श्रद्धा है नारी अमृत की प्याली है।

नारी लेकिन ज्वाला भी है यह परम कराली काली है।।

नारियों का योगदान चतुर्दिक है, अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से इन्होंने विश्व के इतिहास में अपना नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित किया है। यदि अध्यात्म जगत में सीता, राधा, सारदा, गार्गी, मैत्रेयी, उर्मिला, यशोधरा का त्याग-पवित्रमय जीवन है, तो क्रान्ति के क्षेत्र में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, साहित्य जगत में महादेवी वर्मा, सेवा के क्षेत्र में सिस्टर निवेदिता, एनीबेसेन्ट, वैज्ञानिक क्षेत्र में मैडम क्यूरी, कल्पना चावला, राजनीति में इन्दिरा गाँधी, सरोजिनी नायडू, विजया लक्ष्मी का अमिट योगदान रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने नारियों की शिक्षा पर बल दिया और राष्ट्रनिर्माण में उनकी महान भूमिका का अनुमोदन किया।

आज भी समाज के प्रत्येक क्षेत्र में नारियाँ अपनी सेवाएँ दे रही हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, रक्षा, विज्ञान, क्रीड़ा, पर्वतारोहण आदि सबमें उनकी प्रमुख भूमिका है। ऐसी महान नारियों के सद्गुणों, उत्साह, वीरता, दया, ममता, सहिष्णुता, सेवा-समर्पण से विश्व उनका सम्मान करता है। किसी कवि की उक्तियाँ हैं –

नारी निन्दा मत कर नारी नर की खान।

नारी से उपजे ध्रुव प्रह्लाद समान।।

नारी पीड़न मत करो, वह शक्ति भण्डार।

जिसने जग को दिए ऋषि-मुनि, अवतार।।

नारी से ही जन्मे हैं, क्रान्तिकारी विभूति।

शिवाजी राणाप्रताप सम धीर वीर सपूत।।

जल-थल-नभ में नारी कीर्तिध्वज लहराए।

नारी से जग का घर-घर उज्ज्वल जगमगाए।।

प्रिय बन्धुओ ! ऐसी महीयसी नारी आज अपने स्वतन्त्र देश में अपने ही माता-पिता, भाइयों और परिजनों के साथ सुरक्षित नहीं है, उन पर अत्याचार की घटनाओं से प्रतिदिन समाचार पत्र और दूरदर्शन के चैनल भरे रहते हैं। जिस देश में शिवाजी, महराणा प्रताप जैसे महापुरुषों ने मातृभूमि, प्रजा और नारियों के अत्याचारियों का दुर्दमन किया, क्या उस महान देश के युवक, ऐसी वीर-भूमि की सन्तान ये अत्याचार सहते रहेंगे? क्या इस नारी-उत्पीड़न की शृंखला पर विराम नहीं होगा? मेरा युवाशक्ति से निवेदन है कि वे संकल्प लें कि आज से वे न स्वयं किसी पर अत्याचार करेंगे और न करने देंगे। हमेशा ध्यान रहे, **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**। अतः समृद्ध और सुखी भारत हेतु नारियों का सम्मान करें। OOO

साधक-जीवन कैसा हो? (१७)

स्वामी सत्यरूपानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

हम सभी का यह अनुभव है कि वांछित वस्तुयें, भोग-सामग्री इत्यादि इच्छानुसार मिलने पर भी कुछ दिनों बाद उनसे वैसा रस या आनन्द नहीं मिल पाता, जब वे प्रथम बार हमें प्राप्त हुई थीं। इन्द्रियों से मिलने वाला कोई भी सुख यदि जीवन भर यथेच्छ मिलता रहे, तो भी उससे हमारा मन उब जाता है।

पिछले महीने की एक घटना है। एक बच्चा यहाँ बैठा था। वह अच्छा भक्त है, रायपुर आया था। बहुत बढ़िया चमड़े का कीमती जूता पहना हुआ था। वह सुबह जलपान के पहले मंदिर में प्रणाम करने गया। जब लौटकर आया तो नंगे पैर था। मैंने पूछा, क्या हो गया रे? उसने कहा, महाराज, मेरा जूता चोरी हो गया। तो नये जूते से मिलने वाला सुख अनित्य है कि नहीं? जो दीर्घकाल तक न रहे, वह अनित्य होता है। यह संसार भी इसी प्रकार अनित्य है। यह सतत परिवर्तित हो रहा है। सूरज, चाँद, सितारे सभी अनित्य हैं। क्योंकि महाप्रलय में इनका भी नाश हो जायेगा। साधक को अपने मन में यह अनित्य बोध विचारपूर्वक जगाना चाहिए। कुछ चीजें ऐसी हैं, जो काल में बहुत जल्दी नष्ट हो जाती हैं। कुछ हैं, जो अधिक दिनों तक रहती हैं। अधिक दिनों तक रहने वाली चीज, अधिक दिन बाद नष्ट होगी। कम दिनों तक रहने वाली वस्तु कम दिनों बाद नष्ट होगी, पर नष्ट तो होगी ही। इस संसार के अनित्यत्व को मन में दृढ़तापूर्वक बिठा लेना चाहिए।

अनित्य वस्तुओं, व्यक्तियों आदि की व्यावहारिक समसामयिक नित्यता तो आवश्यक एवं अनिवार्य है। क्योंकि जब तक हम जीवित हैं, हमें शरीर-रक्षा के लिए किसी भी रूप में भोजन तो करना ही पड़ेगा। किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि हमारा जीवन भी अनित्य ही है। भोजन भी अनित्य है, पर अगर भोजन को अनित्य समझकर उसे त्याग दें, तो भोजन के पहले हमारी देह ही अनित्य हो जायेगी, देह ही समाप्त हो जायेगी। साधना की पहली शर्त है मन में अनित्य बोध जगाना। जब अनित्य बोध जगेगा, तो आसक्ति कम होने लगेगी। यह बिलकुल गणित के समान है। साधना उचित मार्गदर्शन में होनी चाहिए। अन्यथा वह ९ के पहाड़ा के समान ९ के ९ ही रह जायेगा। आगे-पीछे जैसे नौ दूनी अठारह आठ और एक नौ, नौ तिया सताइस इसमें दो और सात नौ, नौ दहाई नब्बे अर्थात् नौ और शून्य। इसमें नौ का नौ ही रहेगा, नौ और शून्य से आगे नहीं बढ़ सकते, नौ के नौ ही रह जाते हैं। हमें सदैव ध्यान रखना होगा जब कभी मन में मोह जागे, चाहे वह कपड़े का हो, जेवर का हो, कुछ भी हो, उसमें इस अनित्य बोध के भाव का उपयोग करना चाहिए। जैसे यह कुर्सी, यह कमरा, यह बिस्तर मुझे उपयोग करने के लिए मिला है, इससे मैं चिपक क्यों जाऊँ? मेरा मन उनसे चिपक क्यों जाय? हमें तो हमारे जो भी इष्ट हों, उनसे जुड़ना है, इष्ट से चिपकना है। क्योंकि वही एकमात्र नित्य हैं।

अनित्य वस्तुओं का उपयोग हमें इस नित्य में पहुँचने के लिए करना है। जैसे मन्दिर की सीढ़ी है। हम सीढ़ी का उपयोग कर लेते हैं, सीढ़ी में बैठ तो नहीं जाते कि अच्छी सीढ़ी है, यहीं रह जाओ। ऐसा करने पर ब्रह्मस्थानन्दजी पुलिस को बुलायेंगे कि रायपुर वाले बाबाजी को हटाओ, इन्होंने सीढ़ी पर बिस्तर लगा लिया है, वहाँ से हट नहीं रहे हैं। भक्तों को मन्दिर जाने में कठिनाई हो रही है। ऐसी स्थिति न हो। लेकिन हम सब सीढ़ी में बिस्तर लगाये बैठे हैं, किसी को जेवर अच्छा लगता है, किसी को कपड़ा अच्छा लगता है। किसी को नाम-यश अच्छा लगता है। अरे बाबा, ये नाम-यश जो अच्छा लगता है, वह अनित्य है। कुछ चीजें हमारी तुलना में अधिक स्थायी हैं। हमारे इसी आश्रम में अब भी कुछ कुर्सियाँ होंगी, जो हमारे पुराने स्वामीजी उपयोग करते थे। अब वे स्वामीजी लोग नहीं हैं, पर कुर्सियाँ अभी भी हैं। कुर्सी की तुलना में हमारा शरीर अनित्य है। यह भी सोचना चाहिए कि कितना भी अच्छा आपका फर्नीचर हो, कुर्सी हो, आपके वस्त्र हों, कोई भी चीज हो, आप उसकी तुलना में अनित्य हैं। आपके मकान की आयु आपसे अधिक है। हमलोग बाबाजी हैं। हमारा अपना कोई मकान नहीं है। राम-नाम जपना और पराया माल अपना। तो अनित्य-बोध पहली बात !

इस अनित्य बोध का अभ्यास ! छोटी-छोटी अनित्य वस्तुओं पर विचार करते हुए करना चाहिए, गर्मी के दिन आ रहे हैं, घर में घड़ा रखा जायेगा। पानी मिट्टी के घड़े में रखा जाता है। आप लोग भी रखते होंगे। वह ३-४ महीने रहेगा। यह अनित्य है, इसलिए हम उसका उपयोग न करें, ऐसा तो नहीं है। उसका उपयोग कर लें, किन्तु उसे जकड़कर पकड़ न लें। इस अनित्य-बोध को धीरे-धीरे बढ़ाना, साधक और साधिका के लिए परम आवश्यक है।

आज से ५० साल पहले की बात है पूज्यपाद स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज नागपुर आये थे। स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज संघ के महापुरुषों में से एक थे। एक युवक ने उनसे दीक्षा ली थी। वह पढ़ा-लिखा युवक था। यदि त्यागपूर्ण जीवन या आध्यात्मिक जीवन बिताना हो, तो युवावस्था में जो स्वाभाविक मन की चंचलता की मन की वासनाप्रवणता की समस्याएँ आती हैं, जो उसमें बाधक होती हैं, इस सम्बन्ध में दीक्षा के बाद उसने अपने गुरुजी से पूछा, महाराज ! इस वासना के रहते कैसे आध्यात्मिक जीवन बिताया जाय? हम साधु होना चाहते हैं। कैसे साधु बनें जबकि मन में ये निम्न वासनाएँ हैं। ये महापुरुषों की बात है। मैं उस युवक को अच्छी तरह से जानता हूँ, इसलिए आपसे कह रहा हूँ। महाराज ऐसे ही बैठे थे, जैसे मैं बैठा हूँ। एक बड़ी कुर्सी थी। महाराज उस पर आसन लगाकर बैठ गये और अपनी छाती पर हाथ रखकर उन्होंने उस युवक से कहा, ''अभी तुम्हारी समस्याओं का मूल कारण देहात्मबुद्धि है। संयम का अभ्यास या अन्य छोटी-छोटी साधनायें, सहायक हो सकती हैं, किन्तु उसका पूर्ण समाधान आत्मबुद्धि में प्रतिष्ठित होने पर ही होगा।'' हम भले ही यह कार्य तुरन्त न कर सकें, किन्तु समस्याओं के मूल में इस अनित्य देह के प्रति नित्य बुद्धि है। निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे हमारे हाथ का नाखून बढ़ जाता है, तो हम उसे काटकर फेंक देते हैं, हमें बिल्कुल दुख नहीं होता। क्या आप लोगों ने अपने जितने नाखून काटे हैं, उसे अच्छी शीशी या बोतल में भरकर अगरबत्ती दिखाते हैं? आपको उसे फेंकने में कोई दुख नहीं होता।

अनित्य-बोध देह के प्रति कैसे रखना चाहिए? ऐसा विचार करें कि यह देह अनित्य है, नश्वर है, इसके समाप्त होने के पहले इसका अधिकतम सदुपयोग कर लें। इसकी अनित्यता के कारण इससे अधिक अपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। जब तक हम जगत की अनित्यता का बोध नहीं करेंगे, तब तक देह की अनित्यता का बोध नहीं हो सकेगा। जब हम जगत को नित्य मान रहे हैं, तो उसके प्रति अनित्य भाव नहीं आ सकेगा। जगत् अनित्य है, यह भाव हममें पहले आना चाहिए। अनित्य बोध नकारात्मक साधना है, ठीक है, किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। जो देह को अनित्य तो समझते हैं, किन्तु देह के भीतर देही की नित्यता का चिन्तन नहीं करते है, वे लोग देह-पीड़न में लग जाते हैं।

देह अनित्य है इसकी धारणा को दृढ़ करने के लिये मृत्यु का स्मरण रखें। इसके साथ यह भी सोचें कि इस अनित्य के पीछे एक नित्य वस्तु भी अवश्य है, बिना नित्य के अनित्य बोध हो नहीं सकता, उसे नित्य आधार चाहिए तभी वह स्थिर और शान्त हो सकेगा। अभी संसार को हम नित्य समझे हुए हैं, इसलिये संसार के आधार को पकड़े हुए हैं। जैसे कोई पाँच सौ रुपये का नोट लेकर बाजार मे दवा खरीदने के लिये गया। दुकानदार ने देखकर कहा कि यह नकली नोट है और आपने तुरन्त उसके सामने ही फाड़कर नाली में फेंक दिया। आपके लिये वह व्यर्थ हो गया, मात्र एक कागज का टुकड़ा रह गया और आपने तुरन्त उसका त्याग कर दिया। वैसे ही हमें शरीर की अनित्यता और परमात्मा की नित्यता का अभ्यास करना होगा।

इसकी शुरुआत कहाँ से करें? आप-हम जिसका रोज अनुभव करते हैं। शरीर की तुलना में मन नित्य है। शरीर ७८ साल का हुआ पर मन ७८ साल का नहीं हुआ। हम सब का मन हमारे अभी की उम्र का नहीं है। हम सभी अपनी युवावस्था का विस्मरण नहीं कर सकते। यदि हम अपनी युवावस्था के मन का स्मरण करें, तो हमारे मन में अभी भी वैसी ही शक्ति जाग जाती है। शरीर बूढ़ा हुआ, तो क्या हो गया, मन युवावस्था की शक्ति प्राप्त कर सकता है, इसलिये शरीर की तुलना में मन नित्य है। मन जन्म-जन्मान्तरों से हमारे साथ विभिन्न शरीरों में चला आ रहा है। **(क्रमशः)**

प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका

श्रीशंकराचार्य

किमहर्निशमनुचिन्त्यं भगवच्चरणं न संसारः ।
चक्षुष्मन्तोऽप्यन्धाः के स्युः ये नास्तिका मनुजाः ।।३३।।

प्र. रात-दिन किसका चिन्तन करना चाहिए?

उ. रात-दिन भगवान के चरणों का चिन्तन करना चाहिए, संसार का चिन्तन नहीं करना चाहिए ।

प्र. आँखों के रहते हुए भी अन्धे कौन हैं?

उ. जो नास्तिक (ईश्वर, वेद और परलोक में विश्वास न करनेवाले) मनुष्य हैं, वे आँखों के रहते हुए भी अन्धे हैं ।

कः पंगुरिह प्रथितो व्रजति च यो वार्धके तीर्थम् ।
किं तीर्थमपि च मुख्यं चित्तमलं यन्निवर्तयति ।।३४।।

प्र. इस संसार में वास्तविक पंगु कौन है?

उ. जो बुढ़ापे में तीर्थयात्रा करता है, वही असली पंगु है ।

प्र. मुख्य तीर्थ क्या है?

उ. जो चित्त के मैल को दूर करे, वही मुख्य तीर्थ है ।

किं स्मर्तव्यं पुरुषैः हरिनाम सदा न यावनी भाषा ।
को हि न वाच्यः सुधिया परदोषश्चानृतं तद्वत् ।।३५।।

प्र. मनुष्यों को किसका स्मरण करना चाहिए?

उ. सदैव भगवन्नाम का स्मरण करना चाहिए और अनुचित भाषा का उपयोग नहीं करना चाहिए ।

प्र. बुद्धिमान मनुष्य को क्या नहीं कहना चाहिए?

उ. दूसरों का दोष और झूठ नहीं कहना चाहिए ।

किं संपाद्यं मनुजैः विद्या वित्तं बलं यशः पुण्यम् ।
कः सर्वगुणविनाशी लोभः शत्रुश्च कः कामः ।।३६।।

प्र. मनुष्यों को क्या सम्पादन (अर्जन) करना चाहिए?

उ. विद्या, धन, बल, कीर्ति और पुण्य का सम्पादन करना चाहिए ।

प्र. सभी गुणों का नाश करने वाला कौन है?

उ. लोभ ।

प्र. शत्रु कौन है?

उ. काम ही शत्रु है ।

का च सभा परिहार्या हीना या वृद्धसचिवेन ।
इह कुत्रावहितः स्यान्मनुजः किल राजसेवायाम् ।।३७।।

प्र. किस सभा का त्याग करना चाहिए?

उ. जो ज्ञानवृद्ध (अनुभवी) मन्त्रियों से रहित सभा है, उसका त्याग करना चाहिए ।

प्र. संसार में मनुष्य को कहाँ सावधान रहना चाहिए?

उ. मनुष्य को राजसेवा में सदैव सावधान रहना चाहिए ।

प्राणादपि को रम्यः कुलधर्मः साधुसंगश्च ।
का संरक्ष्या कीर्तिः पतिव्रता नैजबुद्धिश्च ।।३८।।

प्र. प्राणों से भी अधिक प्रिय क्या होना चाहिए?

उ. कुल का धर्म और साधु-संग प्राणों से भी अधिक प्रिय होने चाहिए ।

प्र. किसकी रक्षा करनी चाहिए?

उ. कीर्ति, पतिव्रता स्त्री और अपनी बुद्धि की रक्षा करनी चाहिए ।

का कल्पलता लोके सच्छिष्यायार्पिता विद्या ।
कोऽक्षयवटवृक्षः स्यात् विधिवत् सत्पात्रदत्तदानं यत् ।।३९।।

प्र. इस संसार में कल्पलता क्या है?

उ. योग्य शिष्य को अर्पण की गई विद्या ही कल्पलता है ।

प्र. अक्षयवट वृक्ष क्या है?

उ. विधिपूर्वक सत्पात्र को दिया गया दान अक्षयवट वृक्ष के समान है ।

किं शस्त्रं सर्वेषां युक्तिर्माता च का धेनुः ।
किं नु बलं यद्धैर्यं को मृत्युर्यदवधानरहितत्वम् ।।४०।।

प्र. सभी लोगों का शस्त्र क्या है?

उ. युक्ति (विवेकपूर्वक चिन्तन) ही सबके शस्त्र के समान है ।

प्र. सबकी माता कौन है?

उ. गाय सबकी माता है ।

प्र. बल क्या है?

उ. धैर्य ही बल है ।

प्र. मृत्यु क्या है?

उ. असावधानी ही मृत्यु है ।

रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (५)

स्वामी भास्करानन्द

(रामकृष्ण संघ के महान संन्यासियों के जीवन की प्रेरणाप्रद प्रसंगों का सरल, सरस और सारगर्भित प्रस्तुति स्वामी भास्करानन्द जी महाराज, मिनिस्टर-इन-चार्ज, वेदान्त सोसायटी, वाशिंग्टन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Life in Indian Monastries' में किया है। 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु इसका हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी चिदात्मचैतन्य ने किया है। – सं.)

सन्त पद-प्रतिष्ठा की कामना नहीं करते

स्वामी शंकरानन्द जी महाराज रामकृष्ण संघ के संघाध्यक्ष थे। उन्होंने संघ के उपाध्यक्ष स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज से भक्तों को मन्त्र-दीक्षा देने के लिए कहा। इस पर स्वामी विशुद्धानन्द जी ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "मैं गुरु की भूमिका का निर्वहण नहीं कर सकता। मुझे नहीं लगता कि मैं किसी को मन्त्र-दीक्षा देने के योग्य हूँ।"

स्वामी शंकरानन्द

स्वामी शंकरानन्द जी महाराज ने कहा, "हममें से कोई भी गुरु बनने के योग्य नहीं है, लेकिन श्रीरामकृष्ण नकली सिक्के से खेलना चाहते हैं। यद्यपि हम इसके योग्य नहीं हैं, फिर भी यह श्रीरामकृष्ण की महिमा है कि वे हम लोगों के द्वारा अपना कार्य करा ले रहे हैं।"

स्वामी विशुद्धानन्द

स्वामी शंकरानन्द जी एवं स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज दोनों ही उच्च स्तर के आध्यात्मिक सन्त थे। अपनी विनम्रता के कारण वे पद-प्रतिष्ठा से परे थे। यह रामकृष्ण संघ की परम्परा का विलक्षण वैशिष्ट्य है, जिसके स्रोत स्वयं श्रीरामकृष्ण देव हैं। एकबार दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के कक्ष में एक भक्त रात्रि में रुके हुए थे। मध्य रात्रि में अचानक जोर की आवाज से उनकी नींद खुल गई। उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण जगे हुए हैं और व्याकुलतापूर्वक बारम्बार माँ जगदम्बा से प्रार्थना कर रहे हैं – "माँ, मुझे नाम-यश मत दो ! मेरी तुमसे प्रार्थना है, माँ मुझे नाम-यश मत दो !"

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "नाहं, नाहं, तुहूँ तुहूँ।" (मैं नहीं, मैं नहीं, तू ही, तू ही !) स्वार्थत्याग, अपने मिथ्याभिमान को मिटा देना ही रामकृष्ण-संघ की परम्परा की विलक्षणता है।

श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य एवं रामकृष्ण संघ के द्वितीय संघाध्यक्ष स्वामी शिवानन्द जी महाराज जब महासमाधि में लीन हो गये, तो उनके कुछ शिष्यों ने बेलूड़ मठ में उनके शयन-कक्ष को मन्दिर के रूप में परिवर्तित करने की इच्छा व्यक्त की। जैसे स्वामी विवेकानन्द जी के शयन-कक्ष को मन्दिर बनाया गया है, वैसे ही स्वामी शिवानन्द जी महाराज के शयन-कक्ष को भी मन्दिर बनाया जाए, ऐसा उनका अभिमत था।

स्वामी शिवानन्द

इससे संघ के न्यासी दुविधा में पड़ गये। क्योंकि यदि इसकी अनुमति दे दी जाती है, तो इससे एक नयी परम्परा की शुरुआत हो जायेगी और अन्ततः मठ के सभी कमरे मन्दिर में परिवर्तित हो जायेंगे, क्योंकि आगामी वर्षों में अनेक संघाध्यक्ष होंगे। अतः इसकी अनुमति नहीं दी जा सकती। परन्तु क्या किया जाय, इस बारे में न्यासीगण कोई भी निर्णय नहीं ले पा रहे थे। उन्हें इस समस्या का कोई समाधान नहीं सूझ रहा था कि स्वामी शिवानन्द जी महाराज के अनेक शिष्यों की भावना को कैसे ठेस नहीं पहुँचाया जाय।

स्वामी शिवानन्द जी महाराज की महासमाधि के बाद संघाध्यक्ष का पद रिक्त हो जाने पर श्रीरामकृष्ण देव के अन्यतम शिष्य स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज (१८६४-१९३७) को संघाध्यक्ष नियुक्त किया गया। स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज बेलूड़ मठ से ८० किलोमीटर दूर सारगाछी आश्रम में निवास करते थे। इस समस्या को सुनने के बाद अखण्डानन्द जी महाराज बेलूड़ मठ आये और अपने बिस्तर को लेकर सीधे स्वामी शिवानन्द जी महाराज के कक्ष में चले गये और घोषणा की, "मैं अपने बड़े भाई के कमरे

में निवास करूँगा, देखता हूँ कि कौन मुझे इस कमरे से बाहर निकालता है !'' इस प्रकार स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज ने बड़ी बुद्धिमता से इस कठिन एवं भावनात्मक समस्या का समाधान कर दिया।

स्वामी अखण्डानन्द

स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज विनोदी स्वभाव के साथ ही बहुत विनम्र भी थे। उन्हें संघाध्यक्ष के रूप में चयनित किया गया था, किन्तु वे इतने विनम्र थे कि संघगुरु का पद ग्रहण करने की उनकी इच्छा नहीं थी। रामकृष्ण संघ में केवल संघाध्यक्ष, उपाध्यक्ष और विदेशों में सेवारत कुछ संन्यासियों को ही दीक्षागुरु का पद प्रदान किया जाता है। बहुत से भक्त संघाध्यक्ष से मन्त्र-दीक्षा लेने को इच्छुक थे। किन्तु अखण्डानन्द जी महाराज किसी को भी मन्त्र-दीक्षा देने में रुचि नहीं दिखा रहे थे।

इस प्रकार बहुत दिन बीत गये। स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज को दीक्षा के लिए कैसे राजी किया जाये इस विषय में न्यासीगण चिन्तित थे। तब उन्हें स्मरण हुआ कि स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज स्वामी शिवस्वरूपानन्द (१९०२-१९९१) को बहुत प्रेम करते हैं। वे अखण्डानन्द जी महाराज से बहुत कनिष्ठ थे। अखण्डनन्दजी के बेलूड़ मठ आने पर वे उनके भोजन एवं अन्य कार्यों के द्वारा उनकी सेवा किया करते थे। अखण्डानन्दजी महाराज को मन्त्र-दीक्षा के लिए सहमत कराने के लिए न्यासियों ने शिवस्वरूपानन्द महाराज से कहा।

न्यासियों के निर्देशानुसार शिवस्वरूपानन्द स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज के पास गये और प्रणाम करके कहा, ''महाराज, बहुत से भक्त मन्त्र-दीक्षा के लिए उत्सुक हैं। क्या आप दीक्षा देकर उनलोगों पर कृपा नहीं करेंगे?''

अखण्डानन्दजी महाराज ने उत्तर दिया, ''स्वामी शिवानन्द जी महाराज को उनके एक शिष्य ने बहुत अच्छी रेशम की एक धोती और उत्तरीय दिया था। यदि मुझे भी वैसे ही धोती-उत्तरीय मिले, तो मैं दीक्षा देने के बारे में सोचूँगा।''

शिवस्वरूपानन्द महाराज ने यह बात न्यासियों को बताई। सिल्क धोती-उत्तरीय मँगवाकर अखण्डानन्दजी महाराज को दिया गया। किन्तु महाराज की ओर से किसी को दीक्षा देने की थोड़ी-सी भी सम्भावना नहीं दीख रही थी।

पुन: न्यासियों ने स्वामी शिवस्वरूपानन्द को स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज से इस बारे में बात करने के लिए कहा। इस बार अखण्डानन्द जी महाराज ने कहा, ''स्वामी शिवानन्द जी महाराज विशेष प्रकार का चप्पल पहनते थे, जिसका तलवा (sole) रस्सी का और ऊपर का भाग मखमल का था। यदि मुझे वैसी ही जोड़ी चप्पल की मिले, तो मैं दीक्षा देने या नहीं देने पर विचार करूँगा।''

हाथों से बना हुआ उस प्रकार का चप्पल केवल नेपाल में ही पाया जाता था। उसे प्राप्त करने में कई महीने लग गये। अब की बार अखण्डानन्द जी महाराज दीक्षा देने के लिए सहमत हो गये। किन्तु उन्होंने पूछा, ''मैं किसे दीक्षा दूँ? दीक्षार्थी भक्त कहाँ हैं? वे तो मुझे लगभग जानते ही नहीं !''

स्वामी शिवस्वरूपानन्द ने उत्तर दिया, ''महाराज, बहुत से भक्तों ने स्वामी शिवानन्द जी महाराज से दीक्षा के लिए प्रार्थना की थी, किन्तु अन्तिम अवस्था में रोगग्रस्त होने के कारण उनकी दीक्षा न हो सकी। हमारे पास उन भक्तों के नाम हैं। यदि आप उन्हें दीक्षा देंगे, तो वे स्वयं को धन्य समझेंगे।''

इसके बाद महाराज ने दीक्षा देना आरम्भ किया। लेकिन दीक्षा के पूर्व वे भक्तों से कुछ शर्त रखते थे। भक्तों के द्वारा उन शर्तों को पूरा करने पर ही वे दीक्षा देने पर राजी होते थे। उदाहरण के लिए, कुछ दम्पती को वे दीक्षा के बाद भाई-बहन की तरह जीवन व्यतीत करने के लिए कहते थे। कभी-कभी वे किसी नवयुवक को दीक्षा के उपरान्त अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए शपथ लेने को कहते थे।

ये सभी बातें सुनने के बाद मैंने (स्वामी भास्करानन्द) स्वामी शिवस्वरूपानन्द जी महाराज से पूछा, ''वे भक्त क्या करते थे? क्या वे सभी शपथ लेने के लिए तैयार हो जाते थे?''

स्वामी शिवस्वरूपानन्द जी महाराज ने उत्तर दिया, ''मैं सभी के बारे में तो नहीं जानता। लेकिन मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो वास्तव में दीक्षा के लिए उत्सुक थे उन लोगों ने वैसा अवश्य किया होगा।'' **(क्रमश:)**

भारत की ऋषि परम्परा (५)

स्वामी सत्यमयानन्द

(भारत वर्ष के प्राचीन ऋषियों का सरल, सरस और सारगर्भित विवरण स्वामी सत्यमयानन्द जी महाराज, सचिव रामकृष्ण मिशन, कानपुर ने अपनी पुस्तक 'Ancient Sages' में किया है। विवेक ज्योति के पाठकों हेतु इसका हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है। – सं.)

ऋषि वशिष्ठ

भारतीय प्राचीन विचारधारा की संरचना में जिन विभिन्न शक्तियों का समावेश है, उसमें दो शक्तियों की प्रधानता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उन्होंने एक-दूसरे के विरुद्ध संघर्ष किया अथवा एक-दूसरे को परिसीमित किया। कभी-कभी एक-दूसरे के पूरक बनकर कार्य भी किया, किन्तु यह बहुत थोड़े समय के लिए ही था। इन दो शक्तियों में से पौरोहित्य शक्ति का स्वामित्व ऋषियों के अन्तर्गत था। जबकि राजशक्ति का स्वामित्व राजाओं के अन्तर्गत था। संयम, तप, आर्जव, आध्यात्मिक ज्ञान और वेदों में पाण्डित्य – यह पुरोहितगण के स्वाभाविक लक्षण थे। पौराणिक कथाएँ इन दोनों शक्तियों के वीरतापूर्ण कार्यों से परिपूर्ण हैं।

दो महान ऋषियों ने इन दोनों शक्तियों के पृथक उपयोग द्वारा अपना-अपना समुचित प्रभाव उत्पन्न किया। ये हैं पौरोहित्य शक्ति सम्पन्न ऋषि वशिष्ठ और राजशक्ति सम्पन्न ऋषि विश्वामित्र। ऋषि वशिष्ठ ब्राह्मण कुल के गौरव के प्रतीक थे। ऋषि विश्वामित्र के स्वयं को एक सफल राजा से ब्राह्मणोचित स्तर पर समुन्नत करने के प्रयत्नों पर अनेक कथाएँ हैं। यद्यपि दोनों ऋषियों का आपस में विरोध था, तथापि दोनों एक-दूसरे का आदर करते थे और एक-दूसरे के साहस को मानते थे।

महर्षि वशिष्ठ सप्तऋषियों में से एक थे। वे ब्रह्मा के मानसपुत्र और उनके दिव्य तेज के उत्तराधिकारी थे। वे संसार मे सृष्टि विस्तार करने वाले चौबीस प्रजापतियों में से एक थे। पुराण-शास्त्रों की कथाओं में कालानुक्रम नही होता । इसलिए ऋषि वशिष्ठ की उत्पत्ति के दो अन्य उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, किन्तु ये उनके परवर्ती दो जन्मों के सन्दर्भ में माने जाते हैं।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में इन महान ऋषि की रचना का वर्णन आता है। स्वामी विवेकानन्द महर्षि वशिष्ठ के बारे में कहते हैं, '(वशिष्ठ) शान्त आदर्श को प्रदर्शित करते हैं।'

पवित्र नारियों में सर्वोपरि अरुन्धती ऋषि वशिष्ठ की सहधर्मिणी थीं। अपने पतिदेव के समान वे भी आदरणीय और प्रसिद्ध मानी जाती हैं। वशिष्ठ के पास सर्व सद्-इच्छाओं को पूर्ण करने वाली स्वर्ग की प्रसिद्ध गाय नन्दिनी थी। इस गाय को सुरभि अथवा कामधेनु नाम से भी जाना जाता है। वेदान्तियों द्वारा उच्चरित एक श्लोक में ऋषि वशिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति, पौत्र पराशर, प्रपौत्र व्यास और व्यास के पुत्र शुकदेव की ब्रह्मविद्या के संवाहक और गुरु रूप में स्तुति की गई है।

ऋषि वशिष्ठ शक्तिशाली इक्ष्वाकु वंश के सम्माननीय कुलगुरु थे और इसी सूर्य वंश में भगवान श्रीरामचन्द्र ने जन्म लिया था। इन गुणों के कारण ऋषि वशिष्ठ रामायण के मुख्य पात्रों में से एक थे। इस अमर महाकाव्य में इनका वर्णन बुद्धिमान, सर्वज्ञ, महान, उदात्त और परिपक्व विचारों के प्रवक्ता के रूप में किया गया है। विश्व के अद्भुत महाकाव्य महाभारत में भी इन अतुलनीय ऋषि का वर्णन यत्र-तत्र प्राप्त होता है, वहाँ वे भीष्म के गुरु हैं।

प्रजापति दक्ष के महान यज्ञ में मृत्यु के पश्चात ऋषि वशिष्ठ के परवर्ती जन्मों में उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के वैदिक यज्ञ से बताई गई है। इस जन्म में राजा निमि उनकी मृत्यु का कारण बने थे। ऋषि वशिष्ठ राजा निमि के कुलगुरु थे। राजा निमि एक यज्ञ कराना चाहते थे। ऋषि वशिष्ठ को इन्द्र के यज्ञ में ऋत्विज के रूप में जाना था, इसलिए उन्होंने राजा निमि को यज्ञ स्थगित करने के लिए कहा।

निमि ने व्यग्र होकर अन्य सभी ऋषियों को आमन्त्रित किया और ऋषि वशिष्ठ की अनुपस्थिति में यज्ञ आरम्भ किया।

जब यज्ञ चल रहा था, तब ऋषि वशिष्ठ लौटे और क्रोधित हो गए, क्योंकि निमि ने उनके आने की प्रतीक्षा नहीं की। उन्होंने निमि को शाप दिया कि उनकी मृत्यु हो जाए। निमि भयभीत हो गए और प्रतिशोध की भावना से उन्होंने भी ऋषि वशिष्ठ को शाप दिया, 'जो ब्राह्मण क्रोध को नियन्त्रण में नहीं रख सकता, वह चाण्डाल के समान है।' उन्होंने वशिष्ठ को शाप दिया कि उनकी मृत्यु हो जाए। वशिष्ठ भयभीत होकर अपने पिता ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने उन्हें फटकारते हुए निर्देश दिया कि राजा निमि के शाप के फलस्वरूप उनकी मृत्यु के बाद वे स्वयं को मित्रावरुण के तेज (वीर्य) में समाहित करें।

एकबार मित्रावरुण ने स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी को विचरते हुए देखा। वे उनके लावण्यपूर्ण सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए। उन्होंने स्वयं को दो भागों में विभाजित किया और उनके समीप गए। इस संयोग से ऋषि अगस्त्य के साथ ऋषि वशिष्ठ का पुनर्जन्म हुआ। इसलिए वशिष्ठ का दूसरा नाम मित्रावारुणि भी है।

वशिष्ठ शब्द का अर्थ है, जिसने पृथ्वी, जल, अग्नि आदि तत्त्वों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। ऋषि वशिष्ठ ने इस शक्ति का उपयोग परोपकार हेतु किया था। भयंकर अनावृष्टि के समय उन्होंने वृष्टि लाकर सबको राहत पहुँचाई थी, इस तरह के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। प्रकृति उनकी उपस्थिति में सौम्य रहती थी। सर्वभूतों के प्रति उनकी अनन्त और अहैतुक कृपा थी। अग्नि पुराण और विष्णु पुराण में ऋषि वशिष्ठ के प्रथम अवतार में उनके सात पुत्र बताए गए हैं। वे सभी जन्म से ही पवित्र थे और बड़े होकर उन्होंने अपने पिता के समान ब्रह्मर्षि का स्थान प्राप्त किया था।

ऋषि वशिष्ठ के ऊपर घोर संकट का समय तब उपस्थित हुआ जब उनके पुत्र शक्ति का राजा मित्रसह से विवाद हुआ और उन्होंने उनको राक्षस कल्माष्पद बनने का शाप दिया। ऋषि विश्वामित्र ने कल्माष्पद की आसुरी शक्ति को बढ़ाकर इस स्थिति को और भी गम्भीर बना दिया। इस भयानक असुर ने सर्वप्रथम अपना क्रोध शक्ति पर उतारा और उसके बाद उसके निन्यानबे भाइयों का भी वध कर दिया। इस तरह उसने सबका वध कर दिया। पुत्र-शोक से ऋषि वशिष्ठ और अरुन्धती इतने विह्वल हो गए कि उन्होंने आत्महत्या करने का प्रयत्न किया। लिंग पुराण में वर्णन आता है कि दोनों श्रद्धेय पति-पत्नी ने पर्वत के शिखर पर चढ़कर नीचे छलांग मारी, पर उन्हें कुछ भी क्षति नहीं पहुँची। तब पृथ्वी देवता ने उन्हें संसार के कल्याण के लिए प्राण धारण रखने की प्रार्थना की ।

ऋषि वशिष्ठ साक्षात ज्ञान की मूर्ति थे, वे शीघ्र ही इस शोक से ऊपर उठ गए। वे जानते थे कि आत्मा निर्विकार, अनन्त, अमर, शुद्ध है तथा शरीर और मन के सारे अनुभव मरु-मरीचिका की भाँति मिथ्या हैं। उनके नाम से विभूषित योगवाशिष्ठ ग्रन्थ में उनके और श्रीराम के बीच हुए संवाद का वर्णन है। इस ग्रन्थ में हम वेदान्त के उदात्त और गहन विचारों का वर्णन पाते हैं। वे वशिष्ठ-स्मृति ग्रन्थ के भी प्रणेता थे।

ऋषि वशिष्ठ की महानतम विजय का स्वर्णिम समय तब था, जब वे और अरुन्धती पूर्ण चन्द्र की निस्तब्ध रात्रि के सौन्दर्य को निहार रहे थे। उस समय ऋषि वशिष्ठ अपने शत्रु विश्वामित्र के पराक्रम की प्रशंसा कर रहे थे। उसी क्षण विश्वामित्र सशस्त्र होकर चोरी-छुपे उनको मारने के उद्देश्य से प्रवृत्त हो रहे थे। उन्होंने सुना कि वशिष्ठ उनकी प्रशंसा कर रहे हैं। लज्जा और पश्चाताप से भरकर उन्होंने शस्त्र फेंक दिए और ऋषि वशिष्ठ को प्रणिपात कर उनकी महानता स्वीकार की। ऋषि वशिष्ठ ने उन्हें उठाया और उन्हें ब्रह्मर्षि सम्बोधन कर अपने समान स्थान दिया। **(क्रमशः)**

गुण-दोषों से ही मनुष्य निर्मित है। सबमें ही थोड़े बहुत अच्छे-बुरे गुण होते हैं। पराये दोष और त्रुटियाँ न ढूँढ़कर स्वयं के ढूँढ़ने चाहिए। दूसरों के गुणों को और अपने दोषों को बढ़ाकर देखना चाहिए तथा दूसरों के दोष और निज गुणों को छोटा करके देखना चाहिए। मक्खी मवाद से भरे व्रण पर बैठती है और मधुमक्खी फूल पर। परचर्चा से आत्मचिन्तन में क्षति होती है।

– स्वामी विरजानन्द

काशी के बनबाबा (५)

स्वामी अप्रमेयानन्द, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

(प्रस्तुत निबन्ध का मूल बांगला से हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मिशन साधना कुटीर, ओंकारेश्वर के स्वामी उरुक्रमानन्द जी ने किया है।)

बनबिहारी महाराज की आत्मवत् सेवा के दृष्टान्तस्वरूप एक घटना का स्मरण हो रहा है। एक दिन गर्मी में दोपहर के समय वे वार्ड में अकेले ही सेवारत थे। अन्य महाराजगण विश्राम ले रहे थे। एक महाराज का काम था बनारस की गलियों में यदि कोई असहाय रोगी-नारायण हो, तो उसे अस्पताल में पहुँचाना। उस दिन दोपहर को उन्होंने एक मुमुर्षु रोगी-नारायण को रिक्शा में लाकर वार्ड के बरामदे में लाकर सुला दिया। इसके बाद बनबिहारी महाराज की अपनी भाषा में – वे नारायण को सुलाकर चले गये। नारायण बहुत मोटे आकार के थे, किन्तु कोई होश नहीं था। पूरे शरीर में कीचड़ लगने से दुर्गन्ध आ रही थी तथा बुखार से शरीर तप रहा था। ऐसी अवस्था में अकेले ही उनकी सेवा करना सम्भव न देखकर वे साधु चले गये। बनबिहारी महाराज स्वयं उनकी सेवा करने में असहाय पाकर रोने लगे और साथ-ही-साथ कहने लगे, 'अरे! तुम लोग सब कहाँ हो? मेरे पिता शिवतीर्थ में आकर अस्वस्थ होकर बेहोश हो गये हैं।'' इस प्रकार थोड़ी देर रोने-धोने से महाराजगण दौड़कर आ गये और सबने मिलकर बर्फ के जल से नारायण को धो-पोंछकर बिस्तर पर सुला दिया। सेलाइन आदि औषधियों के प्रयोग से नारायण स्वस्थ हो गये। इसी समय महाराज के मित्र एक साधु ने उनसे पूछा, ''ओ बनबिहारी ! सच बता तो वे क्या सचमुच तुम्हारे पिता हैं?'' (बनबिहारी महाराज का चेहरा और उन रोगी-नारायण का चेहरा बिल्कुल नहीं मिलता था।) उनका सहज-सरल उत्तर था, ''पिता नहीं तो और कौन हैं? और यदि पिताजी कहकर नहीं रोता, तो क्या तुम लोग इस दोपहर में दौड़कर यहाँ आते?'' बिल्कुल अपरिचित, रास्ते के एक गरीब व्यक्ति को अपना पिता कहकर बताने की यह घटना दुर्लभ ही है।

ब्रह्मचारी बनबिहारी जब काशी सेवाश्रम में आए थे, तब आजकल के समान बिजली नहीं थी। उस समय लालटेन के प्रकाश में ही सब काम होते थे। प्रतिदिन दोपहर को १०-१५ लालटेनों के शीशों को स्वच्छ करना पड़ता था। एक दिन शीशा साफ करते समय एक शीशा जमीन पर गिरकर फूट गया। तब क्या करें, यह न समझकर उन्होंने एक वरिष्ठ साधु को सब बात बता दी। उन्होंने कहा, 'दो ही मार्ग हैं। एक तो महन्त महाराज की डाँट सुनो, अन्यथा भिक्षा करके एक शीशा ले आओ।'' उस दिन बनबिहारी महाराज एक पैसा भिक्षा करके शीशा खरीदकर ले आये थे। इसके बाद से उन्होंने इस तरह की भूल कभी नहीं की।

सेवा किस तरह पूजा हो सकती है, इस प्रसंग में अनेक साधुओं ने बनबिहारी महाराज से पूछा, ''महाराज, पहले प्रतिदिन आप बाबा विश्वनाथ और अन्नपूर्णा माँ के दर्शन और पूजन करने जाते थे। आजकल तो आप जा नहीं पाते, इससे आपको कष्ट नहीं होता?'' बनबाबा ने कहा, 'हाँ, अब तो विश्वनाथ के दर्शन के लिये नहीं जा पाता, किन्तु इस बात से मन में अब कोई दुख नहीं होता, क्योंकि यहीं पर ही बाबा की पूजा मैं करता हूँ। जब भी कोई नारायण ड्रेसिंग करवाने के लिए आते हैं, तब उनके घाव पर सेलाइन वॉटर या हाइड्रोजन पर-ऑक्साइड डालता हूँ, तब ऐसा सोचता हूँ कि बाबा के सिर पर जल द्वारा स्नान करवा रहा हूँ। फिर जब मलहम लगाता हूँ, तब सोचता हूँ कि बाबा को चन्दन लगा रहा हूँ। उसके बाद जब घाव पर छोटा-सा कपड़ा रखता हूँ, तब समझता हूँ कि बिल्वपत्र रख रहा हूँ। उसके बाद बैंडज बाँधता हूँ, इसी से मुझे बहुत आनन्द मिलता है और सन्तुष्टि होती है।''

नारायण-बोध से रोगी की सेवा करने पर उसका साक्षात् फल मिलता ही है। एक दिन की घटना है। उस दिन नारायणों की स्पोंजिग (Sponging) करके भोजन करवाने का भार बनबिहारी महाराज पर पड़ा था। नारायणों को एक-एक करके भोजन करवाने के पश्चात् उन्होंने देखा कि एक नारायण बहुत अच्छी तरह सो रहे हैं। वार्ड इंचार्ज से पूछने पर उन्होंने कहा कि इस अवस्था में उन्हें नींद से उठाना ठीक नहीं होगा, इसलिए तुम प्रतीक्षा करो। उनकी नींद खुलने पर उन्हें खिलाकर फिर तुम भोजन करने जाना। बनबिहारी महाराज के शब्दों में, – उस समय भूख से मेरे पेट में चूहे कूद रहे थे, क्योंकि सुबह मात्र एक कप चाय पेट में गयी थी। इधर भूखे नारायण को छोड़कर भी नहीं जा सकता था। प्राय: २.३० बजे नारायण की नींद खुली। तब उनका मुँह-आँख धोकर स्पिरिट लैम्प जलाकर भोजन गरम करके नारायण को खिलाना आरम्भ किया। नारायण खाते-खाते बोले, 'महाराज आपका अभी तक भोजन नहीं हुआ? घर का अपना आदमी भी इस तरह सेवा नहीं कर

सकता।'' सेव्य-सेवक दोनों की ही आँखों से तृप्ति और आनन्द की अश्रुधारा बहने लगी।

सुदीर्घ ६०-६५ वर्षों में इसी सेवाश्रम में न जाने कितने ही परिवर्तन हुए थे। सब कुछ समयानुसार एवं ठाकुर की इच्छा का अनुभव करते हुए बनबाबा किसी तरह का कोई भी प्रतिवाद न करते हुए, चुपचाप एक साक्षी के समान निष्ठापूर्वक केवल निष्काम सेवा करते रहे। सदा प्रसन्न, सौम्य और शान्त भाव द्वारा वे सभी को आकर्षित करते थे। मैं देखता था उनसे भी बहुत वरिष्ठ साधुगण उन्हें स्नेह, प्रेमभाव के साथ श्रद्धा की दृष्टि से भी देखते थे।

महाराज ने प्राय: ३०-३५ वर्षों से हार्निया रोग को मानो पालकर रखा था और किसी भी तरह ऑपरेशन करने के लिए राजी नहीं होते थे। सन् १९८५ में मैं एक नवीन ब्रह्मचारी के रूप में सर्जिकल वार्ड में सेवा करता था। एक दिन सुबह विश्वनाथजी का दर्शन करके लौटा था। इसी समय हेमेन्दु महाराज ने मुझको बुलाया। आकर देखा कि महाराज का हार्निया strangulated हो गया था। ice-cup देने पर भी कम नहीं हो पा रहा था। यह सब देखकर मैंने डॉ. एस. जी. सिन्हा को फोन किया। डॉ. सिन्हा ने महाराज को ऑपेरशन थियेटर में ले जाने के लिए कहा। मैं भी किसी को कुछ न कहकर महाराज को ओ.टी. ले गया एवं डॉ. सिन्हा ने जाँचकर उनका ऑपरेशन कर दिया। ऑपरेशन हो जाने पर तत्कालीन सेक्रेटरी महाराज स्वामी सत्यानन्दजी (सत्येन महाराज) तथा इंडोर इंचार्ज स्वामी जगन्मयानन्दजी महाराज (गौर महाराज) को सूचना दे दी। उन लोगों ने सुनकर कहा, ''अरे! यह क्या कर दिया? बनबाबा का हार्निया ऑपरेशन कर दिया, जिसे हम कई वर्षो से नहीं कर पाए! ठीक है, अच्छा ही हुआ।'' मैंने महाराज का कष्ट देखकर तथा डॉक्टर के निर्देशानुसार ही यह काम किया था, फिर भी अब यह सोचता हूँ कि उस समय तो महाराज लोगों की मैंने वाह! वाह ! पा ली, परन्तु उस तरह मेरा ऑपरेशन करवाना ठीक नहीं हुआ। महाराज भी धीरे-धीरे स्वस्थ हो गए। तब महाराज की आयु ८२ वर्ष की थी।

अद्वैत आश्रम में पूजनीय उदय महाराज रहते थे। वे पूज्यपाद स्वामी सारदानन्दजी महाराज के शिष्य थे एवं बनबाबा से उम्र में कुछ बड़े थे। वे प्रतिदिन संध्या-आरती के बाद बनबाबा को देखने आया करते थे। उस दिन उदय महाराज के आने पर बनबाबा ने कहा, ''दादा, मैं जाने के लिए तैयारी करके बैठा हूँ।'' दोनों बूढ़ों का वार्तालाप इस तरह कुछ देर चलता रहा। ठाकुर बाड़ी के भण्डारी अमल महाराज ने मुझसे कहा कि उदय महाराज सुबह से ही आश्रम में कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं। उस समय दोपहर के १२ बजे थे। उसके पहले दिन संध्या समय उदय महाराज और बनबाबा के बीच जो बातें मैंने सुनी थी, वह डॉक्टर और अन्य महाराज लोगों को बता दीं।

तत्पश्चात् डॉक्टर ने निर्देश दिया कि बनबाबा को यह खबर न दी जाए। दोपहर भोजन के बाद हम दोनों आशीष (डॉक्टर और ब्रह्मचारी) ने गंगाघाट पर जाकर उदय महाराज के शरीर को खोज लिया। आश्रम में सूचना दी गई, तब महाराज लोगों ने आकर पुन: उनके शरीर को मणिकर्णिका घाट पर जल समाधि दी। वापस आकर पता चला कि असावधानी से ही रोहिणी महाराज ने बनबाबा को सब घटना बता दी है। इसके बाद से बनबाबा ने भोजन तथा बात करना बन्द कर दिया तथा उनकी अवस्था खराब होती चली गयी। उन्हें ड्रिप शुरू की गयी तथा तीन दिनों के बाद महाराज ने बात करना आरम्भ कर दिया। उसके बाद २० दिनों के बाद वे अस्पताल से लौट आए और १५ दिन विश्राम लेने के उपरान्त पुन: नारायण सेवा में लग गए।

हार्निया के ऑपरेशन के बाद बनबाबा डेढ़ वर्षो तक बहुत अच्छे ही रहे। इसके बाद पेट की व्यथा से उन्हें बड़ा कष्ट होता था। तब मैं उन्हें baralgon injection देता था। इसमें उन्हें आराम मिलता था। रक्त की जाँच करने पर पीलिया रोग पकड़ा गया। औषधि लेने से अच्छे रहते थे। पुन: दो माह के बाद रक्त की जाँच करने पर पता चला कि बिलुरुबिन थोड़ा अधिक था। डॉक्टर ने विश्राम करने के लिए कहा, किन्तु उन्हें विश्राम करना पसन्द न था। वे रोज सेवा करते थे। यदि मना किया जाता, तो कहते, ''भाई, शरीर तो एक-न-एक दिन चला जाएगा। जब तक चल फिर-सकता हूँ, तब तक मुझे ठाकुर-स्वामीजी की सेवा करने से वंचित मत करो।'' कुछ दिन बाद पेट के दाहिनी ओर दर्द का अनुभव होते देख हम लोग (डॉ. स्वामी ब्रह्मेशानन्द, डॉ. आशीष और मैं) महाराज को काशी मेडिकल सेन्टर में यू. एस.जी करवाने के लिये ले गये। वहाँ तब प्रमदादास मित्र के नाती (कन्या के सुपुत्र) मृणालकान्ति बसु मैनेजर थे। उन्होंने इस नये सेन्टर को हमें दिखलाया एवं डॉ. निर्मल जैन ने महाराज की यू.एस.जी कर कहा, ''गॉल ब्लैडर का स्टोन हुआ है। इसीलिए पीलिया होता है और बिलिरुबिन थोड़ा बढ़ा ही रहता है।'' सारी रिपोर्ट देखकर डॉ. सिन्हा

ने ३ मई, १९८७ ई. को महाराज का cholecystectomy operation किया। इस समय महाराज की उम्र ८४ वर्ष की थी। पूरी तरह स्वस्थ होकर वे २७ मई को आश्रम चले आये। उसके बाद १५ दिन विश्राम करने के उपरान्त उन्होंने पुन: नारायण सेवा आरम्भ कर दी।

सम्भवत: सन् १९९१ के अन्त की घटना है। तब हम लोग ८-१० ब्रह्मचारी थे। एक बार हम लोगों ने महाराज से कहा, "आपको व्हील चेयर पर बैठाकर हम लोग आश्रम से विश्वनाथ मन्दिर के दर्शन करने ले जाएँगे।" यह सुनकर महाराज को बहुत आनन्द हुआ। जिस दिन जाएँगे, उस दिन सुबह ३ बजे से उठकर, स्नानादि करके तैयार होकर बैठ हुए थे। ३ बजे महाराज को व्हील चेयर पर बैठाकर ब्रह्मचारी और आश्रम के कुछ भक्तगण उनके साथ समूह में गये। दशाश्वमेघ घाट के ऊपर से माँ गंगा का दर्शन और पवित्र ब्रह्मवारि पीकर उन्होंने प्रणाम किया। इसके बाद साक्षी गणेश और ढूँढीराज गणेश के दर्शन-पूजन कर, विश्वनाथजी के द्वार पर खड़े होते ही सभी पंडा और पुजारी लोगों ने खड़े होकर 'हर ! हर ! महादेव !' की ध्वनि से बनबाबा का स्वागत किया। मन्दिर के अन्दर प्रवेश करके बहुत दिनों बाद विश्वनाथजी का दर्शन कर महाराज एकदम अभिभूत हो उठे। उन्होंने खड़े-खड़े पूजन कर किसी प्रकार विश्वनाथजी का स्पर्श किया। उस समय पुजारीगण रुद्रीपाठ एवं साधु-ब्रह्मचारीगण शिवमहिम्नस्तोत्रादि का पाठ कर रहे थे । पूजा के अन्त में पुजारीजी ने महाराज के कपाल पर चन्दन लगाकर प्रसादी माला पहनाई। वह दिव्य आनन्द का दृश्य आज भी हमारी स्मृति में उज्ज्वल हो उठता है।

इसके बाद महाराज को अन्नपूर्णा मन्दिर के भीतर ले गये। यहाँ भी पुजारियों की सहायता से उन्होंने माँ की बड़े भक्ति-भाव से पूजादि की। अनेक दिनों के बाद महाराज को देखकर पुजारी लोगों को बहुत आनन्द हुआ। धीरे-धीरे अन्नपूर्णा माँ की प्रदक्षिणा करने के बाद हम सभी लोग आनन्द से महाराज को लेकर आश्रम लौट आये। बाबा विश्वनाथ और माँ अन्नपूर्णा के दर्शन करके महाराज कुछ दिनों तक दिव्य आनन्द में थे।

इसी प्रकार एक बार रथयात्रा के दिन महाराज ने जगन्नाथदेव का दर्शन किया था। ○○○

पुस्तकें प्राप्त हुईं

१. उत्तराखण्ड में स्वामी विवेकानन्द

लेखक – मोहन सिंह मनराल
प्रकाशक - अल्मोड़ा किताब घर,
नियर यूनिवर्सिटी कैम्पस, फारेस्ट आफिस के सामने
माल रोड, अल्मोड़ा (उत्तराखण्ड)
दूरभाष – ०५९६२-२३०३४२, २३२८१५
मूल्य - १५०/-, पुस्तकालय संस्करण -३००/-

भारत के महान सपूत और विश्व में सर्वधर्मसमन्वय के महान संदेशक स्वामी विवेकानन्द के जीवन में हिमलाय का महान योगदान रहा । भारत के पुनर्जागरण के पुरोधा और युवाशक्ति में आत्मविश्वास के संचारक स्वामीजी की उत्तराखण्ड की कई यात्राओं का रोचक वर्णन अल्मोड़ा निवासी मोहनसिंह मनराल जी ने अपनी सद्य: प्रकाशित पुस्तक 'उत्तराखण्ड में स्वामी विवेकानन्द' में किया है । पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है । लेखक का दूरभाष है – ९४५८३०४२७६ ।

२. इमोशनल इंटेलिजेन्स

(भावनात्मक मेधा) (स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में)
लेखक – ए. आर. के. शर्मा,
अनुवादक – स्वामी उरुक्रमानन्द
प्रकाशक – श्री सारदा बुक हाउस, प्रथम फ्लोर, प्लाट नं.- ३, प्रथम क्रॉस रोड, एल.आइ.सी कॉलोनी, विजयवाड़ा – ५२० ००८ । (आन्ध्रप्रदेश) दूरभाष – ९७६८९३४९९७, पृष्ठ - १५२, मूल्य – १००/-

३. श्रीरामकथा सुधा

प्रवचनकार – स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती,
सम्पादक – किशोरदास स्वामी उदासीन 'विद्यावारिधि:'
प्रकाशक – स्वामी रामतीर्थ मिशन प्रकाशन,
राजपुर, (देहरादून) – २४८ ००१ (उत्तराखण्ड)
मूल्य – १५०/- , पृष्ठ – २६३
दूरभाष – ०१३५ – २७३४२२५

४. प्रयास (कहानी संग्रह)

लेखक – नारायण सिंह साहू
प्रकाशक – रचना साहित्य समिति, गुरुर, तहसील - गुरुर, जिला - बालोद (छ. ग.) पृष्ठ - ८६. मूल्य – ३०/-

५. महावीर का अन्तर्बोध

संकलक – अनुवादक – दुलीचन्द जैन 'साहित्यरत्न'
प्रकाशक – रिसर्च फाउंडेशन फॉर जैनोलोजी
सुगन हाउस, १८, रामानुजा अय्यर स्ट्रीट, साहुकारपेट, चेन्नई – ६०० ०७९, दूरभाष – ०४४-२५२९८०८२
पृष्ठ - १८१, मूल्य – ५०/-

वैदिक धर्म के पुनर्स्थापक आचार्य शंकर

स्वामी देवभावानन्द

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

चिदानन्दरूपः शिवोऽहम शिवोऽहम्।

आविर्भाव – ऐतिहासिक युग में जिन देव-मानवों का संसार में धर्म-स्थापन के लिए आविर्भाव हुआ, आचार्य शंकर उनमें से एक थे। भारत के राष्ट्रीय तथा धर्म-जीवन के एक महान संधिक्षण में शंकर का अभ्युदय हुआ था। जब बौद्धों के द्वारा हिन्दुधर्म के कर्मकाण्डों पर प्रहार, कुप्रचार होने लगा और अन्य कुप्रथाओं से हिन्दू धर्म का वास्तविक स्वरूप अदृश्य होने लगा, तब भगवान शिव के अंश से आचार्य शंकर का प्राकट्य भारतीय वैदिक संस्कृति के संरक्षण एवं प्रसार हेतु ६८६ ई. में वैशाख शुक्ल तृतीया को शुभ मध्याह्न काल में हुआ, जिन्होंने कालान्तर में मानव के प्रकृत स्वरूप की उद्घोषणा करते हुए कहा था, मैं चिदानन्द शिव हूँ – **चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।**

बाल्यकाल और शिक्षा – बचपन से ही शंकर बहुत शान्त, धीर और तीक्ष्ण बुद्धि के थे। वे श्रुतिधर थे। वे जो कुछ पढ़ते-सुनते थे, सब कुछ उनके स्मृतिपटल पर अंकित हो जाता था। पाँच वर्ष की उम्र में शंकर का उपनयन संस्कार करके उन्हें विद्यार्जन हेतु गुरुगृह भेजा गया। दो वर्षों में ही शंकर उपनिषद, पुराण, इतिहास धर्मशास्त्र, न्याय, सांख्य, पातंजलयोगसूत्र, वैशेषिक आदि अनेक शास्त्रों में पारंगत होकर बृहस्पति के समान विद्वान हो गये।

ब्राह्मणी के दुखनाश हेतु लक्ष्मी देवी का आवाहन

गुरुगृह निवास के नियमानुसार शंकर एक दिन भिक्षा के लिए एक गृहस्थ ब्राह्मण के घर पहुँचे। वे ब्राह्मण बहुत ही निर्धन थे। शंकर को भिक्षा देने के लिये मुट्ठीभर चावल भी उसके घर में नहीं था। बेचारी ब्राह्मण की पत्नी ने शंकर के हाथ में एक आँवला देकर रोते हुए अपनी दरिद्रावस्था की बात बतायी। ब्राह्मणी की दुखद दरिद्रता से शंकर का कोमल हृदय अत्यन्त दुखित हो गया। उन्होंने वहीं खड़े होकर करुणाविगलित चित्त से दारिद्र्यदुखविनाशिनी लक्ष्मी देवी की स्तोत्र-रचना की और ब्राह्मणी की दीनता को दूर करने के लिए देवी के चरणों में कातर प्रार्थना की। बालक की प्रार्थना से लक्ष्मी देवी प्रसन्न हो गयीं। उन्होंने आविर्भूत होकर कहा, ''बेटा, मैं तुम्हारे उद्देश्य को जान चुकी हूँ। परन्तु इस निर्धन परिवार ने पूर्वजन्मों में ऐसा कुछ भी पुण्य कार्य नहीं किया है, जिससे इन्हें मै धन दे सकूँ।''

तब बालक शंकर ने उत्तर दिया, क्यों माता? इस गृहिणी ने तो अभी मुझे एक आँवला दिया है। यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं, तो इनकी गरीबी का निवारण कर दीजिये। देवी ने प्रसन्न होकर कहा, वही होगा, मैं इन्हें प्रचुर सोने के आँवले दूँगी। यह सुनकर शंकर प्रसन्नता के साथ ब्राह्मणी को शीघ्र धनप्राप्ति का समाचार देकर अपने गुरुगृह में वापस आ गये। दूसरे दिन प्रात:काल ब्राह्मण दम्पती ने देखा कि उनके घर में सर्वत्र सोने के आँवले बिखरे पड़े हुये हैं। वे आनन्द से प्रफुल्लित होकर उन सोने के आँवलों को बटोरने लगे और उस बालक के आशीर्वाद से ही उन्हें इतना धन मिला है, यह सबको बताने लगे। इस प्रकार शंकर ने गुरुकुलवास के समय अपनी मेधा, भक्ति और करुणा से सबको आकर्षित किया था। यह छोटी-सी घटना शंकर की करुणा का परिचय देती है।

संन्यास ग्रहण और परिव्रजन – दिन-पर-दिन शंकर के हृदय में संन्यास लेने की इच्छा प्रबल से प्रबलतर होने लगी। अन्ततः विषम परिस्थिति में माता की आज्ञा पाकर शंकर ने अपने मन में इष्टदेवता के चरणों में आत्मनिवेदन कर संन्यास ग्रहण किया। उनके संन्यास की भी बड़ी मार्मिक घटना है। एक बार वे अपनी माँ के साथ नदी में स्नान करने के लिये गये। नदी में स्नान करते समय एक मगर ने उन्हें पकड़ लिया और खींचकर नदीं के गहरे जल की ओर ले जाने लगा। उन्होंने वहीं से माँ को पुकार कर कहा, माँ, बिना संन्यास लिये मुक्ति नहीं मिलेगी। इसलिये मुझे

अब तो संन्यास की अनुमति दे दो। माँ ने दुखित हृदय से संन्यास की अनुमति दे दी। शंकर ने मन-ही-मन संन्यास लिया। संन्यास लेते ही मगर ने उन्हें छोड़ दिया। अब वे संन्यासी थे। उन्होंने कहा, माँ मैं संन्यासी हूँ और अब घर नहीं जा सकता। माँ ने अपनी विवशता बताई। उन्होंने माँ को वचन दिया कि मैं जहाँ भी रहूँ, तेरे अन्तिम समय में अवश्य ही आ जाऊँगा। उसके बाद उन्होंने परिव्रजन किया।

वे गृहत्याग कर परिव्राजक बन गये। मुंडितमस्तक, गैरिकवस्त्रधारी, दंडकमण्डलुधारी उस बालक-संन्यासी को जो भी देखता आश्चर्यचकित हो जाता।

तीर्थ-दर्शन – द्वादशवर्षीय बालक-संन्यासी दुर्गम तीर्थ बद्रिकाश्रम की ओर चले जा रहे थे। मार्ग में अनेकों तीर्थो एवं देवविग्रहों का दर्शन कर वे हरिद्वार पहुँचे।

धर्मस्थापन और लोकशिक्षा – यहाँ से आचार्य का धर्मसंस्थापन का कार्य प्रारम्भ होता है। उन्होंने धर्म का परिष्करण भी किया। आचार्य शंकर ब्रह्मात्मविज्ञानी थे। वे ब्रह्म में पूर्ण प्रतिष्ठित थे। किन्तु केवल समाधिस्थ होने के लिए उनका जन्म नहीं हुआ था, अपितु द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि के स्तर से ऊँचे उठकर अद्वैतवाद की स्थापना, समग्र वैदिक धर्म का पुनर्गठन और पुनर्स्थापना उनका जीवनव्रत था।

ज्ञानी अद्वैत ज्ञान प्राप्त करने के बाद कैसे संसार में रहते हैं, इसका भी आदर्श शंकराचार्य के जीवन में देखने को मिलता है। ज्ञानी विद्यामाया को आश्रय कर, भक्ति, दया और वैराग्य का संबल लेकर रहते हैं। उनके जीवन के दो उद्देश्य रहते हैं, 'लोकशिक्षा एवं रसास्वादन'।

लोकशिक्षा हेतु भारत के विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण किया। उन्होंने तीर्थों के पुनरुद्धार के लिये समग्र भारत में तीर्थाटन किया तथा स्वयं तीर्थक्रियादि कर इन सभी स्थानों की महिमा को प्रकाशित किया। उन्होंने अगणित नर-नारियों को देव-पूजा की मर्मवाणी सुनाकर उन्हें पूजा-अर्चनापरायण बनाया। गीता में भगवान कहते हैं – स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।'

बदरीनाथ में नारायण विग्रह की स्थापना – तीर्थाटन करते-करते शंकराचार्यजी अपने शिष्यों के साथ बदरीनाथ पहुँचे। यह वही तपोभूमि है, जहाँ पर ऋषि-मुनियों ने तपस्या की थी। आचार्यजी ने स्नान करने के बाद श्रीबदरीविशाल के मंदिर में प्रवेश किया। किन्तु आश्चर्य है कि सत्ययुग में ऋषियों द्वारा स्थापित और पूजित चतुर्भुज नारायण का विग्रह तो मंदिर में था ही नहीं। इसे देखकर आचार्य शंकर ने नदी में डुबकी लगायी और चतुर्भुज नारायण की एक मूर्ति लेकर ऊपर आये। शास्त्रानुसार यथाविधि अभिषेक कर स्वयं नारायणविग्रह की युगों के लिए मंदिर में स्थापना की।

प्रयाग में कुमारिल भट्ट से भेंट – श्रीशंकराचार्यजी कुमारिल भट्ट से शास्त्रार्थ करने के लिए प्रयाग पहुँचे। किन्तु उन्हें पता लगा कि कुमारिल भट्ट तुषानल में प्रवेश कर रहे हैं। यह सुनते ही वे भट्टपाद के सामने उपस्थित हुए। महाप्रस्थान के ठीक पहले उस महान यतिवर के दर्शन से भट्टजी आनन्द से गद्गद होकर कहने लगे, 'हे प्रभो ! मैंने जन्मान्तर में अनेक पुण्य किये थे, जिससे जीवन के अन्तिम समय में आपका दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया। किन्तु मैंने जीवन में दो महान अपराध किये हैं –एक है बौद्ध गुरु को शास्त्रार्थ में पराजित कर उनका जीवन नाश और दूसरा है, जैमिनी के मीमांसादर्शन में 'ईश्वर असिद्ध है' ऐसा प्रमाणित करना। कुमारिल भट्ट के वाक्य सुनकर आचार्य स्तंभित रह गये। थोड़ी देर मौन रहकर उन्होंने कहा, 'हे पंडितश्रेष्ठ, आज मै आपके पास वेदव्यासजी की आज्ञा से आया हूँ। मैंने अद्वैत सिद्धान्त के प्रचारार्थ ब्रह्मसूत्र आदि प्रस्थानत्रय के भाष्य लिखे हैं। आप वह सिद्धान्त ग्रहण कर मेरे भाष्यों के वार्तिक लिखिए। भट्टपाद ने कहा, यदि आप पहले आते, तो मै तुषानल में प्रवेश नहीं करता। तब आचार्य ने गंभीर स्वर से कहा, हे ब्राह्मण! मै जानता हूँ कि वेदविरोधियों के मतों का निराकरण करने के लिए आप स्वयं कार्तिकेय के अंश से उत्पन्न हुए हैं और शास्त्रमर्यादा के प्रचार के लिए आपने सत्यव्रत लिया है। तदनन्तर एक विशेष प्रश्न के उत्तर में भट्टपाद ने कहा, 'हे पण्डितश्रेष्ठ मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में पराजित करने से ही आपकी समस्त संसार में विजय हो जाएगी।

आचार्य शंकर का मंडन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ

आचार्य शंकर वहाँ से मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने के लिये मिथिला की ओर प्रस्थान करते हैं। मंडन मिश्र के साथ हुये शास्त्रार्थ में आचार्यजी कहते हैं – क्या अद्वैत ब्रह्मज्ञान ही वेद का एकमात्र तात्पर्य है? कर्म या उपासना चित्तशुद्धि का ही उपाय विशेष है, अत: ज्ञान और कर्म अथवा ज्ञान और उपासना में स्वरूपत: समुच्चय असम्भव है, मुक्ति के लिए एक व्यक्ति को एक ही काल में ज्ञान और कर्म या उपासनापरायण नहीं होना चाहिए। कर्म या उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

इस प्रकार के अद्वैत ब्रह्मात्म ज्ञान से जीव की मुक्ति होती है।' 'न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते' – उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। कर्म या उपासना से साक्षात् मुक्ति नहीं होती। इसके अनन्तर मंडन मिश्र ने भी कर्मवाद पर अपना मत प्रस्तुत किया। शास्त्रार्थ में मंडन मिश्र की पराजय हुई। बाद में मंडन मिश्रजी आचार्य के शिष्य बन संन्यास ग्रहण कर सुरेश्वराचार्य हुए।

माता के अन्तिम समय में इष्ट-दर्शन – आचार्य शंकर योगसिद्ध थे। उन्होंने अपनी माता के अंतिम समय में आकाशमार्ग से उनके पास पहुँचकर उन्हें इष्टदेव का दर्शन कराया।

कर्मयोगी – आचार्य शंकर के जीवन का एक महिमोज्ज्वल अध्याय आरम्भ हुआ। तबसे लेकर लगभग सोलह वर्षों तक, उनके जीवन के अन्तिम दिनों तक हम उन्हें आदर्श कर्मयोगी के रूप में पाते हैं। यद्यपि आठ वर्षों में ही चार वेद, सारे दर्शन तथा अन्यान्य शास्त्रों का अध्ययन, बारह वर्ष के भीतर योगसिद्धि और सर्वशास्त्रज्ञ होना तथा सोलह वर्षों के भीतर ब्रह्मसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों की भाष्यरचना आदि कार्य आचार्य के अथक कर्मजीवन के द्योतक हैं।

अद्वैतवादी आचार्य शंकर ने तीर्थ के देवी-देवताओं की पूजार्चना करके अधिकारी भेद से साकारोपासना का भी विशेष प्रयोजन है, इसे प्रमाणित किया। वे अद्वैतवादी थे, तथापि उनमें किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं थी, कट्टरपन नहीं था। वे जहाँ भी गये सर्वत्र अन्य पथावलम्बियों ने उनकी उदार धर्म व्याख्या सुनकर वैदिक धर्म का माहात्म्य समझा। उनकी शिक्षा और कृपा से कोई वंचित नहीं हुआ। वे अपने आध्यात्मिक जीवन तथा शक्ति से लोगों में सत्यप्राप्ति की आकांक्षा जगा देते थे। उनके उपदेश से विरुद्ध मतावलंबियों का मन परिवर्तित हो जाता था । जो लोग कुमार्ग के कंटकों से विद्ध, अंधविश्वास से पीड़ित तथा संकीर्ण थे, उनके हृदय में आचार्य शंकर शान्ति का अमृत-सिंचन करते तथा दिव्यज्योति जगा देते थे। आचार्य ने ऐसे उदार सनातन धर्म के संवाहक रूप में सम्पूर्ण धर्मभूमि भारत का परिभ्रमण किया था। उनके हृदय में जो अपार क्षमा, दया, विद्वत्ता, परोपकार, भक्ति, ज्ञान, विनय, दृढ़ता, धैर्य, गुणग्राहिता और सर्वोपरि लोकमंगल का जो विकास हुआ था, उससे वे जहाँ भी गये, उनके संस्पर्श से सभी लाभान्वित हुये। उनकी शान्ति की शीतल स्नेहच्छाया ने सबको शान्ति प्रदान की। यथार्थ में आचार्य शंकर शंकरावतार हैं, क्योंकि एक साधारण मनुष्य में ऐसी परिपूर्णता सम्भव नहीं है।

एक दिन श्रीशंकराचार्य जी ने अपने शिष्यों से कहा, कोई भी विद्या या साधना बिना सम्प्रदाय-परम्परा के स्थायी नहीं होती। संसार के कल्याण के लिये और वेदान्त-साधना के आदर्श को स्थायी करने के लिए संन्यासी संघ की स्थापना आवश्यक है। उन्होंने भारत के चार प्रान्तों में चार मठ स्थापित किये। अपने प्रधान शिष्यों पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य, हस्तामलकाचार्य, और तोटकाचार्य को उन चारों मठों का प्रथम मठाधीश बनाया। दक्षिण में शृंगेरी मठ में आचार्य सुरेश्वर, उत्तर में बदरीनाथ के ज्योतिर्मठ में आचार्य तोटक, पश्चिम में द्वारका धाम में हस्तामलक, और पूर्व के पुरी धाम में पद्मपाद को आचार्य नियुक्त किया। इस प्रकार उन्होंने भारत के सभी क्षेत्रों में धर्म-प्रचार के लिये अपने शिष्यों को भेजा। उन्होंने निर्देश दिया कि संन्यासियों के दसों सम्प्रदाय उन चारों मठों के अधीन रहकर अपने-अपने मठ के नियम और आदेश के अनुसार धर्मानुष्ठान तथा धर्म-प्रचार करेंगे। मठाधीश पवित्र, जितेन्द्रिय, वेदवेदांग पारंगत, तथा सर्वशास्त्रज्ञ होंगे।

केवल 'निरग्नि' और 'निष्क्रिय' होकर कर्म न करना ही वास्तविक संन्यास नहीं है। कर्मफल में अनासक्ति और इहलोक तथा परलोक में भोगसुख से वैराग्य लेकर भगवत्प्रीति के लिए लोककल्याणकर कर्मानुष्ठान यथार्थ संन्यास है।

आचार्य शंकर के मतानुसार आत्मज्ञानप्राप्ति के पूर्व तक कर्मफलाकांक्षा छोड़कर ईश्वर में फल का अर्पण करते हुए सारे शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान ही कर्मयोग है। ज्ञान प्राप्त होने तक कर्म का परित्याग करना अनुचित है।

महाप्रयाण – अपने जीवन के महाप्रयाण के समय यथासमय केदारधाम पहुचकर आचार्य पहले ही मंदिर में जाकर पूजार्चना में तन्मय हो गए। शिष्य विनीत भाव से उनके पास बैठे रहे। तब आचार्य ने क्षणभर मौन रहकर शिष्यों को संबोधित करते हुए कहा – ''मैं अपने सर्वान्त:करण से आशीर्वाद देता हूँ, जिस ब्रह्मज्ञान का मैंने उपदेश दिया है, वह गुरु परंपरा से प्राप्त है, तुम लोग ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठत रहो।'' इसके अनन्तर आचार्य गंभीर ध्यान में निमग्न हो गए। इस अवस्था में बहुत देर रहकर अन्त में वे समाधियोग के द्वारा आत्मस्वरूप में लीन हो गए, शिवांशसम्भूत शिवभक्त शंकर महाशिव में विलीन हो गए। OOO

सुख का स्त्रोत

ब्रह्मचारी पावनचैतन्य

रामकृष्ण मठ, बेलूड़ मठ

मनुष्य का प्रकृत स्वरूप आनन्द है और उसकी यात्रा इसी आनन्द की खोज है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्द यह दिव्य संबोधन करते हुए कहते हैं – "अमृत के पुत्रो' – कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह। बन्धुओ! इसी मधुर नाम – अमृत के अधिकारी से आपको सम्बोधित करूँ, आप इसकी आज्ञा मुझे दें। निश्चय ही हिन्दू आपको पापी कहना अस्वीकार करता है। आप ईश्वर की संतान हैं, अमर आनन्द के भागी हैं, पवित्र और पूर्ण आत्मा हैं।[१]

मनुष्य में देवत्व है और वह प्रत्येक क्षण उसे प्रकाशित करने का प्रयास कर रहा है, परन्तु वह आनन्द क्यों नहीं पा रहा है? इसकी गवेषणा से हम पाते हैं कि जीव की अपनी कुछ सीमित शक्ति और सीमाएँ भी हैं। उसके अंदर अतीन्द्रिय और बाह्येन्द्रिय दोनों शक्तियाँ विद्यमान हैं। किन्तु उसकी वृत्ति अधिक बहिर्मुखी होती है। उपनिषद में ऋषि कहते हैं – **पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः'**[२] अर्थात "स्वयंभू भगवान ने समस्त इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुखी बनाये हैं, इसलिए मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा प्रायः बाहर की वस्तुओं को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं।" ये बहिर्मुखी इन्द्रियाँ विषयों के संयोग से सुख प्रदान करती हैं।

गीता में भगवान कहते हैं –

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।[३]

– जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह पहले भोगकाल में अमृत तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के समान है।

यहीं से हमारा 'सुख' शब्द पर तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ होता है। यहाँ भगवान के शब्द हमें विचार करने पर बाध्य करते हैं। वास्तव में तो हम स्थायी सुख चाहते हैं, पर हमारी इन्द्रियाँ विषयों से मिलकर हमें मात्र क्षणिक सुख प्रदान करती हैं। इतना ही नहीं, परवर्ती काल में वह दुख देती हैं। जैसे दाद खुजलाने पर उस समय अच्छा लगता है, किन्तु बाद में उसकी जलन से कष्ट होता है।

इन्द्रिय-भोगों से कभी स्थायी सुख नहीं मिल सकता। इन्द्रियों से मिलने वाले सुख का अनुभव हम सबको को होता है। जैसे स्वादिष्ट भोजन का स्वाद जिह्वा तक ही रहता है। गले से नीचे उतर आने पर उसका कोई स्वाद अनुभव नहीं होता, अर्थात् इन्द्रियों का सुख, क्षणिक सुख ही है। इन्द्रियाँ कभी तृष्णा नहीं मिटातीं, बल्कि तृष्णा बढ़ा देती हैं। राजा ययाति जब बूढ़े हो गए, तब उन्होंने अपने पुत्र का यौवन लेकर हजार वर्षों तक भोग किया परन्तु वे तृप्त न हो सके। अन्त में उन्हें अपने कटु अनुभव के रूप में यही कहना पड़ा – 'इन्द्रियों के सुखों के उपभोग में शान्ति नहीं होती। यही नहीं, बल्कि भोगों से तो वासना और भी बढ़ती है। जैसे जलती हुई अग्नि में उसे शान्त करने के लिए और घी डालें, तो वह और बढ़ती जाती है। इस प्रकार भोग उपलब्ध होने पर भी वह मनुष्य को तृप्त नहीं कर सकती, बल्कि उससे अशान्ति ही मिलती है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – **अशान्तस्य कुतः सुखम्**[४] – अशान्त को सुख कहाँ मिलता है? सांसारिक सुखों पर श्रीरामकृष्ण देव एक सुन्दर टिप्पणी करते हुए कहते हैं – "संसार में सुख तो देख रहे हो? मानो आमड़ा का फल है, केवल गुठली और छिलका है। और फिर उसे खाने से अम्लशूल हो जाता है।"[५]

वेद के तैत्तिरीयोपनिषद में ब्रह्मानन्द मीमांसा का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार सर्वप्रथम मनुष्य लोक के भोगों से मिलने वाले बड़े-से-बड़े आनन्द की कल्पना की गयी है। भाव यह है कि एक मनुष्य जो युवा हो, सदाचारी, अच्छे स्वभाववाला, कुलीन हो, समस्त वेदों की जिसे शिक्षा प्राप्त हो, उसके समस्त अंग व इन्द्रियाँ रोग रहित, समर्थ और सुदृढ़ हो और वह सब प्रकार से बलिष्ठ हो। फिर धन-संपत्ति से भरी यह सम्पूर्ण पृथ्वी उसके अधिकार में आ जाय, तो यह मनुष्य का एक बड़े-से-बड़ा सुख है। वह मानव-लोक का सबसे बड़ा आनन्द है।

जो मनुष्य-लोक सम्बन्धी एक सौ आनन्द हैं, वह मानव-गंधर्वों का एक आनन्द होता है। जो मानव-गंधर्वों का एक सौ आनन्द है, वह देव-जातीय गंधर्वों का एक

आनन्द होता है। इसी प्रकार देव-जातीय गंधर्वों का एक सौ आनन्द, पितरों का एक आनन्द और पितरों का सौ आनन्द, आजानज (देवलोक के एक विशेष स्थान का नाम 'आजान' है, उनमें जो उत्पन्न हुए हैं, वे आजानज) देवताओं का एक आनन्द, उनका सौ आनन्द, कर्मदेव नामक देवताओं का एक आनन्द, उनका सौ आनन्द, देवताओं का एक, देवताओं का सौ आनन्द इन्द्र का एक आनन्द, इन्द्र का सौ आनन्द बृहस्पति का एक, उनका सौ आनन्द प्रजापति का एक आनन्द, उनका सौ आनन्द ब्रह्मा का एक आनन्द होता है।

परन्तु जो मनुष्य उस ब्रह्मा के पद से प्राप्त भोगसुख की कामना से भी आहत नहीं है, अर्थात् जो उसे भी अनित्य और तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, जिसको एकमात्र परमानन्द स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करने की ही उत्कट अभिलाषा है, उस वेद के रहस्य को समझने वाले विरक्त पुरुष को वह आनन्द स्वत: प्राप्त है।

इस प्रकार यहाँ एक से दूसरे आनन्द की अधिकता का वर्णन किया गया। हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के आनन्द को सबसे अधिक बताते हुए इस जगत में जितने प्रकार के जो-जो आनन्द पाये जाते हैं, वे चाहे कितने ही अधिक क्यों न हों पर उस पूर्णानन्द स्वरूप परमात्मा के आनन्द की तुलना में बहुत ही तुच्छ हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आनन्द या स्थायी सुख इन्द्रियों में नहीं है, बल्कि उससे परे है। आनन्द इन्द्रियों के द्वारा भोग से नहीं वरन् भोग के त्याग से है।

जो इन्द्रियाँ बाहर की ओर दौड़ रही हैं, उससे क्षणिक सुख तो अवश्य ही मिल सकता है, परन्तु उससे शक्ति का ह्रास ही होता है। पर यही इन्द्रियाँ जब 'कूर्मोङ्गानीव सर्वश:'[६] अर्थात् अन्तर्मुखी हो जाती हैं, तो परम सुख का द्वारा खुल जाता है।

यमराज जब नचिकेता से सुख की प्राप्ति के लिए प्रलोभन देते हुये कहते हैं – **ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके**[७] – "जो-जो भोग मर्त्यलोक में दुर्लभ हैं, उन सम्पूर्ण भोगों को इच्छानुसार माँग ला", तब उत्तर में नचिकेता कहता है – **तवैव वाहास्तव नृत्यगीते**[८] – हे यमदेव, आपके रथादि वाहन और ये अप्सराओं के नाच-गान आपके ही पास रहें, मुझे नहीं चाहिए।" वास्तव में स्वर्ग का त्यागी ही परम सुख का अधिकारी होता है। स्वर्ग का सुख दुखरहित होता है। स्वर्ग में किसी प्रकार का तनिक भी भय नहीं होता, चाहे वह मृत्यु का भय हो, चाहे बुढ़ापे का हो, चाहे भूख-प्यास का हो। परन्तु इसके बाद भी स्वर्ग की एक समयावधि अवश्य होती है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**[९] – पुण्य के क्षय हो जाने के बाद जीव को पुन: मर्त्यलोक में आना पड़ता है, पुन: जन्म-मृत्यु-चक्र में घूमना पड़ता है। इस प्रकार जन्म-मृत्यु के चक्र के साथ सुख-दु:ख का चक्र भी स्वत: आ जाता है। स्वामी विवेकानन्द जी इसी चक्र को इंगित करते हुए कहते हैं – "इस जीवन-मरण से कैसे मुक्त हों, स्वर्ग में कैसे जायें, यह प्रश्न नहीं है, परन्तु स्वर्ग में जाने से कैसे बचें, यही हर हिन्दू की खोज का लक्ष्य है।"[१०]

अब यह प्रश्न उठता है कि हम स्वर्ग कैसे न जायें? किस प्रकार इस चक्र से बाहर निकलें? कैसे स्थायी सुख को प्राप्त करें? इन सभी प्रश्नों का उत्तर है साधना। साधना में पहले तो कष्ट सहना पड़ता है, परन्तु उसका फल परवर्ती काल में मधुर होता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं –

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु में भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दु:खान्तं च निगच्छति।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।[११]

– "हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकार के सुख को भी तू मुझसे सुन। जिस सुख में साधक भजन, ध्यान और सेवा आदि के अभ्यास से रमण करता है और जिससे उसके दुखों का अन्त हो जाता है, वह सुख आरम्भ में यद्यपि विष के तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के समान है, इसलिए परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला वह सुख सात्त्विक कहा गया है।" यदि हम इस सात्त्विक सुख की प्रचेष्टा में सफल हो सकें, तो वास्तव में हम उस स्थायी सुख, उस परम आनन्द को प्राप्त कर सकेंगे।

जो जीवन में सत्य, प्रेम, विवेक और धर्म का अवलम्बन करते हैं, उनके लिए परम सुख का द्वार खुल जाता है। जीवन में परीक्षा के लिए हो सकता है उन्हें

विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता हो, अहंकार पर वज्र की भाँति कुठाराघात हो, पर ऐसे ही जीवन पर प्रभु की असीम कृपा भी बरसती है और वह आनन्द वैसे ही होता है जैसे तपती-फटती धरती पर पहली वर्षा।

स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज अपने एक पत्र में लिखते हैं – "जिनका अहंकार पूर्णरूपेण नष्ट हो गया है, जो अपना मन, बुद्धि, प्राण उस ईश्वर के चरण-कमलों में समर्पित कर चुके हैं, जिनका अपना कुछ भी नहीं रहता, ऐसे व्यक्ति ही सौभाग्यशाली एवं यथार्थ सुखी हैं।"[१२]

परम शान्ति को प्राप्त करने का उपाय

परम सुख को प्राप्त करने का उपाय है ईश्वर की शरण ! जिस प्रकार हम जितना समुद्र की ओर बढ़ते हैं, हमारी शीतलता भी वैसे ही बढ़ती जाती है। हम जितने ईश्वराभिमुखी होते हैं, हमारे जीवन का आनन्द भी उतना ही बढ़ता जाता है, क्योंकि ईश्वर ही आनन्द के स्रोत हैं। तुलसीदासजी लिखते हैं –

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।
जो सुखधाम राम असनामा।
अखिल लोक दायक विश्रामा।।[१३]

जो आनन्द के समुद्र और सुख की राशि हैं, जिस आनन्द सिन्धु के एक कण से तीनों लोक सुखी होते हैं, उनका नाम 'राम' है, जो सुख के धाम और सम्पूर्ण लोकों को शान्ति देने वाले हैं। इसी प्रसंग में श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं – "जो लोग ईश्वर के प्रेम में मस्त हैं, उन्हें कहते हैं 'बौरा गये हैं', परन्तु ये सब लोग इस बात को नहीं समझते कि सच्चिदानन्द अमृत का समुद्र है।

"मैंने नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) से पूछा था, 'मान लो कि एक बर्तन रस है, और तू मक्खी बना है, तो तू कहाँ पर बैठकर रस पीयेगा? नरेन्द्र ने कहा, 'किनारे पर बैठकर मुँह बढ़ाकर पीऊँगा।' मैंने कहा, क्यों? बीच में जाकर डूबकर पीने में क्या हर्ज है?' नरेन्द्र ने कहा, 'फिर तो रस में डूबकर मर जाऊँगा।' तब मैंने कहा, 'भैया, सच्चिदानन्द-रस ऐसा नहीं है, यह रस अमृत-रस है। इसमें डूबने से मनुष्य मरता नहीं अमर हो जाता है।"[१४]

भक्त परम सुख के लिए किसी अलग लोक की अवधारणा नहीं करता बल्कि वह भक्ति में ही रस पाता है। वह भगवान की भक्ति में गोते लगाता है। वह भक्ति के आनन्द में ही विभोर रहता है। भक्त सत्संग का भी आनन्द लेता है। तुलसीदास जी सत्संग को सुख का सर्वोत्तम साधन बताते हुए कहते हैं –

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग।।[१५]

– हे तात ! स्वर्ग और मोक्ष के सब सुखों को तराजू के एक पलड़े में रखा जाये, तो भी वे सब मिलकर दूसरे पलड़े पर रखे हुए उस सुख के बराबर नहीं हो सकते, जो क्षण मात्र के सत्संग से होता है।

अत: जिसने भी हृदय से ईश्वर का भजन किया है, जिसने भी किसी भी साधना से भगवान की ओर पग बढ़ाया है, किसी भी भाव से अपने मन को ईश्वर के चरणों में लगाया है, वे ही यथार्थ सुखी हैं। आइए हम सब प्रार्थना करें कि हमारा मन ईश्वराभिमुखी हो और हम सब परम सुख को प्राप्त करें। 'देवी प्रसन्नवदने करूणावतारे... मातर्विराज सततं मम हृत्सरोजे' – हे करुणामयि माँ मेरे हृदय में सदा विराज करो।[१६] ○○○

सन्दर्भ सूची –

१. (वि. सा. १/१२) २. (कठ. उप/द्वितीय अध्याय/प्रथम वल्ली) ३. (गीता १८/३८) ४. (गीता २/६६) ५. (श्रीरामकृष्णवचनामृत, १८८४/खंड-१/पृ.४९२) ६. (गीता २/५८) ७. (कठ. उप./१/२५) ८. (कठ.उप.१/१/२६) ९. (गीता ९/२१) १०. (वि.सा.१०/२३) ११. (गीता १८/३६-३७) १२. स्वामी ब्रह्मानन्दर पत्र सम्भार पृ.५ १३. (रा.च.मा./बाल का. १९६/३) १४. श्रीरामकृष्ण वचनामृत -द्वितीय खंड ७९४ प.) १५. (रा.च.मा./सु.कां./दोहा ४) १६. श्रीसारदादिव्याष्टकम्

सूरदास जयन्ती

बन्दौं चरन सरोज तुम्हारे

सूरदास

बन्दौं चरन सरोज तुम्हारे।
जे पदपदुम सदाशिव के धन सिन्धसुता उर तें नहिं टारे।।
जे पदपदुम परसि भई पावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे।
जे पदपदुम परसि ऋषि-पत्नी, बलि, नृप, ब्याध-पतित बहु तारे।।
जे पदपदुम रमत बृन्दाबन अहिसिर धरि अगनित रिपु मारे।
जे पदपदुम परसि ब्रजभामिनि, सरबसु दै सुत सदन बिसारे।।
जे पदपदुम रमत पाण्डव दल दूत भये सब काज सँवारे।
सूरदास तेई पदपंकज त्रिविध ताप दुख हरन हमारे।।

(भजन-संग्रह, गीताप्रेस, पृ. ६८)

ध्यान में अरुचि क्यों?

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी

जब हम ध्यान करने बैठते हैं, तो मन एकाग्र नहीं होता। एक क्षण तो वह इष्ट का चिन्तन करता है, लेकिन दूसरे ही क्षण न जाने कहाँ भाग जाता है। यह सभी साधकों की समस्या है। अत: मन क्यों एकाग्र नहीं होता तथा ध्यान के समय उसे समेट कर एक स्थान पर लगाये रखने का उपाय क्या है, यह जिज्ञासा स्वाभाविक एवं समीचीन है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व यह जानने का प्रयत्न करें, कि हमारा मन किसी भी समय एकाग्र नहीं होता या केवल ध्यान के समय ही नहीं होता? इसका उत्तर खोजने पर हम पायेंगे कि कुछ विषयों में तो हम एकाग्र हो जाते हैं किन्तु अन्य में नहीं। एक विद्यार्थी कहानी तथा उपन्यास पढ़ने में तथा खेलों का आँखों देखा हाल सुनने में आसानी से एकाग्र हो जाता है, किन्तु पाठ्य-पुस्तक पढ़ने अथवा कक्षा में गुरुजी द्वारा पढ़ाये जा रहे विषय को सुनने में कठिनाई अनुभव करता है। नवविवाहित वर-वधु अथवा प्रणयमग्न युवक-युवती को एक दूसरे के चिन्तन में रात-दिन डूबे रहने में कोई अड़चन नहीं होती। तात्पर्य यह है कि हममें से प्रत्येक के जीवन में अभिरुचि के कुछ केन्द्र या विषय-विशेष होते हैं, जिनमें मन का निविष्ट होना आसान होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ध्यान में मन के एकाग्र न होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण भगवच्चिन्तन में रुचि का अभाव है। ध्यान-जप करना हमारे लिये कड़वी दवाई पीने के समान है, जिसके लिए लालायित होना तो दूर रहा, जिसकी समाप्ति पर हम राहत की साँस लेते हैं।

यही नहीं, हम ध्यान व भगवच्चिन्तन को अपने जीवन के लिए आवश्यक ही नहीं मानते। भोजन हमारे जीवन का अनिवार्य अंग है, क्योंकि उसके बिना जीवन नहीं चल सकता। उसी प्रकार अर्थोपार्जन, परिवार की देखभाल, मित्रों से मिलना तथा समाचार पत्र पढ़ना आदि दैनन्दिन कार्य उपयोगी तथा जीवन के लिये अनिवार्य प्रतीत होते हैं। लेकिन भगवच्चिन्तन तथा ध्यान? उसके बिना इतने वर्ष तो आसानी से व्यतीत हो ही गये हैं। उसकी आवश्यकता ही क्या? तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ तथा सबल बनाये रखने के लिए पौष्टिक आहार आवश्यक है, उसी प्रकार मन तथा आत्मा को स्वस्थ रखने के लिए ध्यान आवश्यक है, यह सत्य हम हृदयंगम नहीं कर पाते।

ध्यान में एकाग्र न होने का एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारण है – हम अपने पूरे मन से भगवच्चिन्तन नहीं करना चाहते। यदि चेतन मन भगवान का ध्यान करना चाहता है, तो अचेतन मन नहीं चाहता। अचेतन मन में जन्म-जन्मान्तरों के न जाने कितने संस्कारों का कूड़ा-कर्कट भरा हुआ है। काम, क्रोध, लोभ तथा भोग के संस्कारों की परत-पर-परत जमी पड़ी है। जब मन का चेतन भाग शुभ चिन्तन करने का प्रयत्न करता है, तब भोगपरायण भाग को लगता है कि उसका अस्तित्व खतरे में है और तब मन में छिपे ये शत्रु विद्रोह कर उठते हैं। इसलिये प्रारम्भिक अवस्था में साधक के मन में शुभ और अशुभ भागों में स्वाभाविक एक संग्राम छिड़ जाता है। यही कारण है कि ध्यान में सफलता के लिए यम-नियमों का पालन तथा कर्मयोग द्वारा चित्तशुद्धि को इतना महत्त्व दिया जाता है।

संक्षेप में ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए ध्यान की अनिवार्यता को गहराई से समझना, उसके लिये तीव्र उत्कण्ठा जगाना, अपने इष्ट के प्रति अनुराग पैदा करना तथा नैतिक जीवनयापन करना आवश्यक है।

ध्यान की लगन तथा उसके लिये चाह बढ़ाना साधक का पहला कार्य है। जिन्होंने अपना समग्र जीवन भगवच्चिन्तन में व्यतीत किया, जिनका जीवन ध्यान-केन्द्रित था, ऐसे सन्त-महापुरुषों की जीवनी तथा उपदेशों का पठन-पाठन इसमें अत्यन्त सहायक होता है। ध्यान-प्रवण जीवन का अर्थ यही नहीं कि अन्य सभी कार्यों को त्याग कर रात-दिन केवल ध्यान ही किया जाये। इसके माने यह है कि ध्यान को अपने दैनन्दिन जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बना लिया जाये तथा अन्य सभी कार्यों को इस प्रकार किया जाये कि वे ध्यान में सहायक हों। मन में ध्यान के प्रति ऐसी लगन हो कि हम उसके बिना न रह सकें।

ध्यान के समय दो प्रकार के विचार मन को विक्षिप्त कर सकते हैं। पहले वे, जो दैनन्दिन क्रियाकलापों से सम्बन्धित होते हैं, तथा दूसरे पूर्व-स्मृतियाँ तथा अचेतन मन से उभरने वाले सुप्त संस्कारों से सम्बन्धित होते हैं। संस्कारों का क्षीण होना तो समय सापेक्ष है, लेकिन दैनन्दिन चर्या को नियंत्रित कर तथा सभी कार्यों को भगवान के लिए कर हम बहुत-सी ध्यान की समस्या को सुलझा सकते हैं। कर्म के पूर्व भगवान का स्मरण करो, कर्म के अन्त में भी ऐसा करो, तथा कर्म के बीच, जब कभी समय मिले भगवत्-स्मरण कर लो,

यह स्वामी ब्रह्मानन्द जी का निर्देश ध्यान के लिये मन को प्रस्तुत करने में बहुत सहायक होगा।

साधक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य इष्ट के प्रति अनुराग पैदा करना है। जिस प्रकार चन्दन घिसने से चन्दन की तथा पुष्पों को हाथ में लेने से पुष्पों की सुगन्ध मिलती है, उसी प्रकार इष्ट की कथा का श्रवण, लीला-चिन्तन, पूजा, अर्चना तथा नाम-गुण-गान करने से धीरे-धीरे उनके प्रति अनुराग उपजता है। तब ध्यान में भी रस मिलने लगता है। वह मधुमय हो जाता है।

महर्षि पतंजलि प्रणीत अष्टांग योग प्रणाली में ध्यान का अति उच्च अर्थात् सातवाँ स्थान है। योग के आठ अंगों में अन्तिम तथा चरम अंग समाधि है, जो योग का लक्ष्य है, और ध्यान उसके ठीक पहले की अवस्था है। अत: ध्यान इतनी आसानी से नहीं सध सकता। वस्तुत: जिसे सामान्यत: ध्यान का बड़ा नाम दिया जाता है, वह ध्यान है ही नहीं। हम ध्यान करने का प्रयास भर करते हैं। ध्यान के पहले वाले सीढ़ी का अभ्यास जिसे 'धारणा' कहा जाता है, सहज ही किया जा सकता है। मन को एक देश अर्थात् सीमा विशेष में बाँधकर रखना 'धारणा' कहलाता है – 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'' (पा.यो.सू.३:.१)। उदाहरण के लिये श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीला, माखन-चोरी, यमलार्जुन-उद्धार, बकासुर वध, कालिया-दमन आदि का चिन्तन कृष्ण भक्त कर सकते हैं। इसमें मन एक घटना से दूसरी घटना में भटकेगा अवश्य, लेकिन वह वृन्दावन की सीमा के बाहर नहीं जायेगा। राम-भक्त भगवान राम के जन्म से रामराज्य तक की लीला का चिन्तन कर सकते हैं, किन्तु मन को इस सीमा के बाहर न जाने दें। जिनके इष्ट श्रीरामकृष्ण हैं, वे दक्षिणेश्वर में अपने कमरे में बैठे, पंचवटी में ध्यान करते, माँ भवतारिणी की पूजा करते, अथवा गंगा के तट पर टहलते श्रीरामकृष्ण का ध्यान कर सकते हैं। मन को भटकने की छूट रहे, किन्तु दक्षिणेश्वर मन्दिर की चार-दिवारी तक ही। धीरे-धीरे इस सीमा को कम करके इष्ट के एक प्रसंग-विशेष में मन को निविष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। साधक को सदा यह याद रखना चाहिए कि मन स्वभाव से ही बन्दर के समान चंचल है तथा यह चंचलता बहुत दीर्घकाल तक बनी रहती है। अत: तत्काल फल की न तो आशा करनी चाहिए और न ही असफल होने पर निराश होना अथवा प्रयास त्यागना चाहिए।

अभ्यास तथा वैराग्य चित्तवृत्तिनिरोध के सर्वमान्य उपाय हैं, जिनका निर्देश पतंजलि ने 'योग-सूत्र' में तथा भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में किया है। दीर्घकाल तक निरन्तर व्यवधान-रहित अभ्यास के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। बार-बार गिरने पर भी खड़े होने का प्रयत्न करने वाले और अन्त में दौड़ने में भी सफल होने वाले नवजात बछड़े का दृष्टान्त स्वामी ब्रह्मानन्द जी दिया करते थे। अत: निरन्तर संघर्ष करते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त सफलता का कोई मार्ग नहीं है। ○○○

मानवीय मूल्यों में अहिंसा

डॉ. दिलीप धींग, चेन्नई

अहिंसा सर्वोत्तम मानवीय मूल्य तो है ही, यह समस्त मानवीय मूल्यों का आधार भी है। अहिंसा के होने से अन्यान्य मूल्य भी मूल्यवान बने रहते हैं। अहिंसा के अभाव में दूसरे सभी मूल्य मूल्यहीन होते चले जाते हैं। आज संसार में यही हो रहा है। अहिंसा की उपेक्षा से सारे मूल्य अपना अर्थ खोते चले जा रहे हैं। मानवाधिकारों की बातें भी स्थायी सुपरिणामदायी सिद्ध नहीं हो रही हैं। मानवता और मानवीय मूल्यों में गिरावट हमारे समय की विकट व बड़ी त्रासदी है।

अहिंसा एक शाश्वत तत्त्व है। सत्ता के मूल में अहिंसा है। वह अस्तित्व की शर्त है। विशुद्ध सत्ता स्वभाव से ही अहिंसक है। प्रकृति में स्वभाव से हिंसा का कोई तात्त्विक विधायक अस्तित्व नहीं है। आचारांग सूत्र में तीर्थंकर महावीर कितना सरल किन्तु सटीक कहते हैं – सुख सबको प्रिय है, दुख अप्रिय। सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। हम जैसा व्यवहार स्वयं के प्रति चाहते हैं, वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति भी करें। यही मानवता है और मानवता का आधार भी। मानवता बचाने में है, मारने में नहीं। किसी भी मानव, पशु-पक्षी या प्राणी को मारना, काटना या प्रताड़ित करना स्पष्टत: अमानवीय है, क्रूरतापूर्ण है। हिंसा और रक्तपात का मानवीय मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। मूल्यों का सम्बन्ध तो 'जियो और जीने दो' जैसे सरल-श्रेष्ठ उद्घोष से है।

सह-अस्तित्व के लिए अहिंसा अनिवार्य है। दूसरों का अस्तित्व मिटाकर अपना अस्तित्व बचाए रखने की कोशिशें व्यर्थ और अन्तत: घातक होती हैं। आचार्य उमास्वाति की प्रसिद्ध सूक्ति है – परस्परोपग्रहो जीवानाम् अर्थात् सभी जीव एक दूसरे के सहयोगी होते हैं। पारस्परिक उपकार-अनुग्रह से जीवन और जगत गतिमान है। समाज और सामाजिकता का विकास भी अहिंसा की इसी अवधारणा पर हुआ। अहिंसा से सहयोग, सहकार, सहकारिता, समता और समन्वय जैसे

उत्तम और उपयोगी मानवीय मूल्य जीवन्त होते हैं।

केन्द्र से परिधि तक परिव्याप्त अहिंसा व्यक्ति से लेकर विश्व तक को आनन्द और अमृत प्रदान करती है। संसार में मानवीय मूल्यों का ह्रास है, मानवाधिकारों का हनन हो या अन्य समस्याएँ, एक शब्द में हिंसा मुख्य और मूल समस्या है और समस्याओं का कारण भी। इसी प्रकार समस्त समस्याओं का समाधान भी एक ही है, वह है – अहिंसा। अहिंसा व्यक्ति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की विराट भावना का संचार करती है। मानव-जाति युद्ध, हत्या और आतंक के भयंकर दुष्परिणाम भोग चुकी है, भोग रही है और किसी भी तरह के खतरे का भय हमेशा बना हुआ है। मनुष्य, मनुष्यता और जगत को बचाने के लिये अहिंसा से बड़ा कोई अन्य उपाय नहीं हो सकता। जब तक व्यक्ति के चित्त से हिंसा के संस्कार नहीं हटेंगे, तब तक स्थायी शान्ति का स्वप्न साकार नहीं हो सकता। मेरी ये काव्य-पंक्तियाँ अहिंसा का महत्त्व दर्शाती हैं –

अहिंसा की प्रथम पहचान भाव-शुद्धि है,
अहिंसा का प्रकर्ष प्रतिमान अक्रूर-बुद्धि है।
सहज खिल जाते शान्ति-समता के सुमन,
अहिंसा का प्रधान परिणाम सर्वसमृद्धि है।

स्पष्ट है कि हिंसा मानवता के भव्य प्रासाद को नींव से हिला देती है। मनुष्य जब दूसरे को मारता है, तो वह स्वयं को ही मारता है, स्वयं की श्रेष्ठताओं को समाप्त करता है। इस बात को आचारांग सूत्र (१/५/५/५/) में बहुत सूक्ष्म ढंग से बताया गया है – ''जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।' यह अद्वैत भावना ही अहिंसा का मूलाधार है। एक हिंसा, हिंसा के अन्तहीन दुष्चक्र को गतिशील करती है। अहिंसा सबको अभय प्रदान करती है। वह सर्जनात्मक व समृद्धिदायिनी होती है। मानवता का जन्म अहिंसा के गर्भ से हुआ। सारे मानवीय मूल्य अहिंसा के परिवेश से पल्लवित, पुष्पित, विकसित और जीवित रहते हैं। वस्तुत: अहिंसा मनुष्यता की प्राणवायु (ऑक्सीजन) है। प्रकृति, पर्यावरण, पृथ्वी, पानी और प्राणी मात्र की रक्षा करने वाली अहिंसा है।

मानव ने ज्ञान-विज्ञान में आश्चर्यजनक प्रगति की है। परन्तु अपने और दूसरों के जीवन के प्रति सम्मान में कमी आई है। विचार-क्रान्तियाँ बहुत हुईं, परन्तु आचार के स्तर पर क्रान्तिकारी परिवर्तन कम हुए। शान्ति, अहिंसा और मानवाधिकारों की बातें संसार में बहुत हो रही हैं, किन्तु सम्यक् आचरण का अभाव अखरता है। इस सम्बन्ध में प्राकृत जैन ग्रंथ सूत्रकृतांग (१/१/४/१०) में बहुत ही मूल्यवान परामर्श दिया गया है –

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया।।

ज्ञानी-विज्ञानी और शिक्षित होने का सार यह है कि किसी की हिंसा न की जाय। अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है। बस, इतनी-सी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए। आचार, विचार, आहार, संस्कार और जीवन-व्यवहार में अहिंसा के आ जाने से मानवता का उपवन सद्गुणों के असंख्य रंग-बिरंगे सुमनों से खिल उठता है। इसके विपरीत अहिंसा की उपेक्षा से सब कुछ बिगड़ता-उजड़ता चला जाता है। अहिंसा मानव सभ्यता और संस्कृति की बुनियाद है, उसे उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए।

अहिंसा, एकता, प्रेम और भाईचारे का सन्देश देती है। हिंसा से मानवीय एकता और मानवीय प्रेम भी खतरे में पड़ जाते हैं। सभी लोग जानते और कहते हैं – मानव-धर्म सर्वोपरि है। किन्तु उस मानव-धर्म का अर्थ, स्वरूप और परिभाषा क्या है? मानव-धर्म कैसा होना चाहिये? स्पष्टत: मानव धर्म अहिंसामूलक होना चाहिए। दया, करुणा, अनुकम्पा आदि अहिंसा के अन्य नाम हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र (२/१/७-८) में अहिंसा के साठ नाम बताते हुए इसे समस्त प्राणियों का निरापद आश्रम बताया गया है। महाकवि तुलसीदासजी ने दया को धर्म का मूल कहा है। महात्मा बुद्ध ने करुणा को धर्म का लक्षण बताया। महाभारत में अहिंसा को परम और पूर्ण धर्म कहा गया है। सचमुच, अहिंसा मानव-धर्म है। अहिंसा से ओत-प्रोत जीवन-शैली से मानव-धर्म प्रतिष्ठित होता है। ऐसे मानव-धर्म में सहज ही प्राणिमात्र का समावेश हो जाता है। मेरी 'क्षणिका' है –

मनुजमात्र का धर्म अहिंसा, प्राणिमात्र इसके अधिकारी।
प्रेम, सेवा, त्याग आदि निष्पत्तियाँ इसकी उपकारी।।

वस्तुत: प्रेम, सेवा, समर्पण, सत्य, क्षमा, बन्धुत्व, आदि मानवीय सद्गुण अहिंसा की निष्पत्तियाँ हैं। अहिंसा से आत्मौपम्य दृष्टि का विकास होता है। दूसरों के कष्ट अपने लगने लगते हैं। अहिंसा का साधक पर के कष्ट-निवारण के लिए सेवा को तत्पर हो जाता है। जहाँ सेवा है, वहाँ त्याग भी स्वत: होता है। स्वयं के प्रति कठोर और दूसरों के प्रति नम्रता अहिंसा की दृष्टि है। सच्चा अहिंसक दूसरों को पीड़ित नहीं करता है, बल्कि वह अपनी सामर्थ्यानुसार दूसरों की पीड़ाएँ दूर करने का प्रयास करता है। अहिंसा का साधक अपने सुख में सबको भागीदार बनाकर सुखों में वृद्धि और सुखों की सृष्टि करता है। निष्कर्षत: विश्व के समस्त धर्मों, धर्माचार्यों, धर्मग्रन्थों, महापुरुषों और विचारकों ने अहिंसा को सबके लिए सर्वत्र कल्याणकारी माना है। मानवीय मूल्यों में अहिंसा सर्वोपरि है। ○○○

'शरणम्'

(भगवद्-गीता पर आधारित एक अवश्य पठनीय उपन्यास)

'शरणम्'
रचनाकार – नरेन्द्र कोहली
प्रकाशक - वाणी प्रकाशन, ४६९५, २१ - ए, दरियागंज, नई दिल्ली - ११० ००२
पृष्ठ -२२३, मूल्य – २२५/-

भारतीय संस्कृति में जीवन के चार उद्देश्य या पुरुषार्थ बताये गये हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इनमें सबसे पहला है धर्म, इसका अर्थ है कि हम चाहे धन या काम का या कोई अन्य भोग करें, धर्म-सम्मत होना चाहिए । संयम के साथ इस संसार के पदार्थों का भोग करते हुए व्यक्ति क्रमश: उनकी असारता तथा नश्वरता को समझ लेता है । वह जान लेता है कि सांसारिक एषणाओं की पूर्ति उसे चिर सन्तुष्टि तथा शान्ति नहीं दे सकती । इस प्रकार धीरे-धीरे वह अपनी चित्तशुद्धि करते हुए सहज भाव से मोक्षमार्ग का अधिकारी बन जाता है ।

आधुनिक पीढ़ी के युवक धार्मिक उपदेशों के प्रति उदासीन नहीं है, पर वे इन्हें सहज तथा बोधगम्य रूप में पाना चाहते हैं । वे चाहते हैं कि ये उपदेश उनके दिन-प्रतिदिन के जीवन तथा जागतिक अभ्युदय में भी उपयोगी तथा सहायक हों ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख साहित्य-स्रष्टा श्री नरेन्द्र कोहली द्वारा भगवद्-गीता की पृष्ठभूमि में लिखित **'शरणम्'** नामक उपन्यास इसी दिशा में एक सफल तथा अत्यन्त सार्थक प्रयास है । 'शरणम्' में सम्पूर्ण गीता के मुख्य उपदेशों को नाटकीय कथोपकथन के माध्यम से सहज-सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है । महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गीता के उपदेशों का निरूपण लेखक ने रोचक नाटकीय तथा संवादात्मक शैली में किया है । मूल गीता में श्रीकृष्ण और अर्जुन के अलावा संजय और धृतराष्ट्र का वर्णन आता है, किन्तु 'शरणम्' में, 'पात्रों के रूप में संजय और धृतराष्ट्र तो थे ही; हस्तिनापुर में उपस्थित कुन्ती भी आ गईं । द्वारका में बैठे वसुदेव, देवकी, रुक्मिणी और उद्धव भी आ गए हैं ।'

गीता के उपदेशों की विशेषता यह है कि ये उपदेश युद्ध भूमि में दिए गए थे । स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'इस जगत में हम सबके लिए जीवन भी एक अनवरत युद्ध है । ऐसे अनेक अवसर आते हैं, जब हम अपनी दुर्बलता और कायरता की क्षमा और त्याग के रूप में व्याख्या करते हैं । भिखारी के त्याग में कुछ प्रशंसनीय नहीं है । प्रहार करने की क्षमता होने पर ही क्षमादान में सार्थकता है ।'

अर्जुन अपनी दुर्बलता को त्याग और क्षमा का मुखौटा पहनाना चाहते थे । श्रीकृष्ण उनकी इस दुर्बलता पर आघात करते हैं । 'शरणम्' में बड़े सुन्दर ढंग से इसका वर्णन आता है –

''मैं मानवता की रक्षा के लिए निवेदन कर रहा हूँ ।'' अर्जुन ने कहा, ''प्राणियों की जीवन-रक्षा के लिए प्रयत्नशील हूँ ।''

श्रीकृष्ण का स्वर कुछ कठोर हो गया, ''क्लीव मत बनो ।''

''क्लीव?'' अर्जन का मुख आश्चर्य से खुल गया, ''आप मुझे क्लीव कह रहे हैं ।''

''आत्मरक्षा और धर्मरक्षा के लिए न लड़ने वाले नपुंसक, यह कायरता वीर अर्जुन के योग्य नहीं है । शोभा नहीं देता तुम्हें, युद्ध से विमुख हो जाना । हृदय की इस तामसिक दुर्बलता को त्यागो । परन्तप ! उठकर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ ।''

स्वामी विवेकानन्द गीता के उपरोक्त उपदेश के बारे में कहते हैं, ''यदि कोई यह श्लोक पढ़ता है – **क्लैब्यं मा स्म**... तो उसे सम्पूर्ण गीता-पाठ का लाभ होता है, क्योंकि इसी एक श्लोक में पूरी गीता का सन्देश निहित है ।''

व्यक्ति को समाज में स्वाभिमान से रहना चाहिए । धन और प्राण चले भी जाएँ, किन्तु वीर के लिए उसकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि होती है । 'शरणम्' में विदुला नाम की यशस्विनी, मानिनी क्षत्राणी का वर्णन आता है, वे युद्ध से विमुख अपने पुत्र से कहती हैं, ''तू तिन्दुक की जलती हुई लकड़ी के समान चाहे दो ही घड़ी के लिए हो, पर प्रज्वलित हो उठ । किन्तु भूसी की तरह ज्वालारहित आग के समान केवल धुँआ मत कर ।' यही दृष्टि 'शरणम्' में हमें वीर माता कुन्ती के शब्दों में मिलती है, जो उन्होंने श्रीकृष्ण से कहे थे, ''और अर्जुन और भीम से कहना, जिस क्षण के लिए क्षत्राणी 'पुत्र' को जन्म देती है, वह क्षण आ गया है ... इस क्षत्राणी का पुत्र-प्रसव सार्थक होगा । मुझे उनका अपयश नहीं चाहिए ।''

संसार में रहकर संसार के घात-प्रतिघातों का सामना करना और वह भी शान्त-निश्चल भाव से – इसका सुन्दर वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है –

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं, ''कृष्ण ! आपने मेरे भिक्षा माँगकर जीवन व्यतीत करने के प्रस्ताव को परिहास में उड़ा दिया । अब आप स्थितप्रज्ञ की चर्चा कर रहे हैं ! स्थितप्रज्ञ होकर ध्यान में बैठे रहने से युद्ध कैसे होगा?''

श्रीकृष्ण कहते हैं, 'मैंने तुम्हें जो कुछ समझाया, उसका तात्पर्य यह है कि स्थिर और एकाग्र बुद्धि वाले लोग अपना धर्म मानकर अपने कर्तव्य का पालन करते हैं । वे द्वन्द्व में नहीं रहते ... सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने विवेक के वश में करो, चित्त को शान्त और नियन्त्रित करो...।''

व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार स्थिरबुद्धि होकर अपने कर्तव्य किए जायँ, 'शरणम्' में इसका रोचक वर्णन मिलता है, इससे पाठक की मूल गीता के अध्ययन के प्रति जिज्ञासा जाग सकती है और साथ ही जिन्होंने पहले ही गीता को पढ़ रखा है, वे भी लेखक की इस अद्भुत भावपूर्ण शैली से अपूर्व आनन्द का उपभोग कर सकेंगे । OOO

भगिनी निवेदिता का १५०वाँ जन्म-समारोह

गुवाहाटी मिशन आश्रम ने १८ जनवरी को एक व्याख्यान आयोजित किया, जिसमें ५५० लोगों ने भाग लिया।

मेंगलुरु मठ-मिशन के १५ फरवरी को आयोजित हुए 'नारी सशक्तिकरण' कार्यक्रम में ६५० युवतियों ने भाग लिया।

पोर्ट ब्लेयर मिशन ने ५ और ९ जनवरी को 'पोर्ट ब्लेयर कैम्पस ऑफ पॉन्डिचेरी युनिवर्सिटी' में युवा सम्मलेन का आयोजन किया, जिसमें ४५० स्नातकोत्तर विद्यार्थियों ने भाग लिया।

कोलकाता स्थित **स्वामी विवेकानन्द पैतृक निवास** में हुए २५ और २९ जनवरी के व्याख्यान में ६०० लोगों ने भाग लिया।

स्वच्छ भारत अभियान

बागबाजार मठ ने ३० जनवरी को स्वच्छता अभियान के अन्तर्गत आश्रम के निकटवर्ती स्थानों में स्वच्छता की, जिसमें ६० विद्यार्थियों ने भाग लिया।

भोपाल आश्रम स्थित विद्यालय के छात्रों ने २ और ३ फरवरी को कुछ सार्वजनिक स्थलों में स्वच्छता की।

चेन्नई स्टुडन्ट्स होम के पॉलिटेक्निक द्वारा जनवरी और फरवरी में पाँच स्वच्छता कार्यक्रम आयोजित किए गए, जिसमें संस्थान के लगभग २५० छात्रों और कर्मचारियों द्वारा अनके गली-सड़कें और सार्वजनिक क्षेत्र साफ किए गए।

मेंगलुरु मठ-मिशन के द्वारा ४० सप्ताह का 'स्वच्छ मेंगलुरु प्रकल्प' का आयोजन किया जा रहा था। इसके प्रथम सोपान के समापन के अवसर पर १४ फरवरी को एक कार्यक्रम आयोजित किया गया। श्री वैंकेया नायडु, केन्द्रीय मन्त्री, शहरी विकास एवं अन्य गणमान्य व्यक्ति इस कार्यक्रम में उपस्थित थे। इसके अतिरिक्त आश्रम द्वारा आयोजित फरवरी महीने के स्वच्छता अभियान में १५०० लोगों ने मेंगलुरु के अनेक इलाकों को स्वच्छ किया।

रामहरिपुर (प.बं.) मिशन आश्रम के उच्च विद्यालय के विद्यार्थी एवं शिक्षकों ने ८ फरवरी को कुछ सार्वजनिक स्थल और गली-सड़कें स्वच्छ कीं।

रामकृष्ण मिशन के नए शाखा-केन्द्र का लोकार्पण

पश्चिम बंगाल के हुगली जिले में स्थित **गुराप** क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन के नए शाखा-केन्द्र का आरम्भ हुआ।

कामारपुकुर, रामकृष्ण मठ-मिशन के उच्च विद्यालय में १२ फरवरी, सरस्वती पूजा के पावन अवसर पर बहु-उद्देशीय भवन का उद्घाटन श्रद्धेय स्वामी वागीशानन्द जी महाराज के करकमलों द्वारा हुआ।

इलाहाबाद मठ-मिशन के नवनिर्मित रसोई गृह और भोजन-कक्ष का उद्घाटन श्रद्धेय स्वामी गौतमानन्दजी महाराज ने १३ फरवरी को किया।

जयरामबाटी आश्रम में नवनिर्मित कन्या उच्च विद्यालय भवन का उद्घाटन रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के महासचिव श्रद्धेय स्वामी सुहितानन्दजी महाराज के करकमलों द्वारा २३ फरवरी को हुआ।

शीतकालीन राहत कार्य

निम्नलिखित आश्रमों ने शीतकालीन राहत कार्य में कम्बल बाँटें।

क्रम	आश्रम का नाम	कम्बल	दिनांक
१	अलोंग	५००	१० से १७ जनवरी
२	असनसोल	३३०	१० से २२ जनवरी
३	बागबाजार	१६२१	२० दिसम्बर से २६ जनवरी
४	बराहनगर मिशन	३३०	८ सितम्बर से ८ जनवरी
५	चंडीगढ़	३५०	२२ नवम्बर से २८ दिसम्बर
६	कूचबिहार	३००	३१ जनवरी
७	दिल्ली	७८३	१४ दिसम्बर से २७ जनवरी
८	गदाधर आश्रम	५०	५ जनवरी
९	गौरहाटी	३००	२० दिसम्बर
१०	गौहाटी	५०३	२४ दिसम्बर से ३१ जनवरी
११	इच्छापुर	५४०	१२ अक्तूबर से २६ नवम्बर
१२	इम्फाल	१९२०	८ जनवरी और ११ फरवरी
१३	जमशेदपुर	३५२	१३ अक्तूबर से २४ जनवरी
१४	कैलाशहर	१००	२७ और २८ नवम्बर
१५	काँकुरगाच्छी	३५२	९ और ११ जनवरी
१६	मेदिनीपुर	६००	१० अक्तूबर से ३० जनवरी
१७	मुजफ्फरपुर	३००	२४ जनवरी
१८	उटक्कमंड	२५०	२४ जून से १० फरवरी
१९	पुरुलिया	३००	२१ नवम्बर से १० जनवरी
२०	रहड़ा	१०१	२ से १६ जनवरी
२१	सारगाछी	५१५	२५ नवम्बर से १७ दिसम्बर
२२	सरिशा	७४०	१२ अक्तूबर से २१ दिसम्बर
२३	वाराणसी सेवाश्रम	२२३	९ दिसम्बर से ३१ जनवरी
२४	वृन्दावन	५००	२ से १२ जनवरी